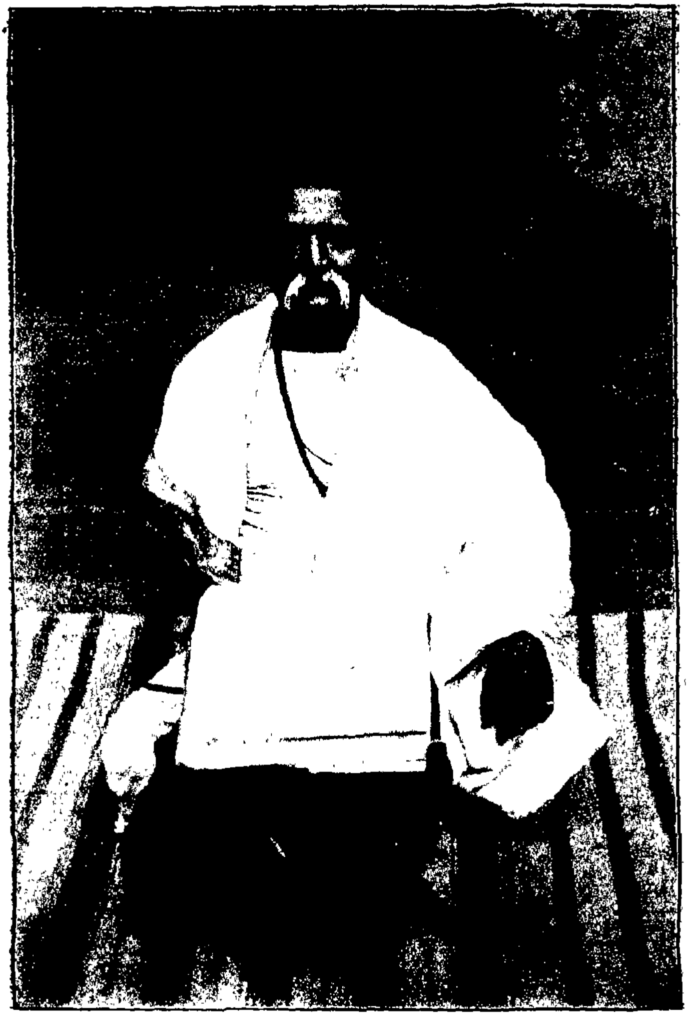
सनातन जैनमत

लेखक

जैन धर्मभूषण धर्मदिवाकर

ब्र० शीतलप्रसाद जी



लाला न्यादरमल जी जैन सर्राफ़, मालिक फ़र्म कँवरसैन न्यादरमल
जैनी सर्राफ़, बड़ा दरीबा, देहली ।

Krishna Press, Allahabad.

❀ वन्देजिनवरम् ❀

सनातन जैनमत

जिसको

श्री महावीर जन्मोत्सव देहली के लिए तैयार किया गया

लेखक

जैन धर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी

आनरेरी सम्पादक जैन मित्र व वीर

प्रकाशक

प्रेमचंद जैन देहलवी

श्री महावीर जयन्ती वीर निर्वाण सम्वत् २४५३

प्रथमवार १००० } अप्रैल सन् १९२७ } मूल्य चार आने

धन्यवाद

निम्न-लिखित सज्जनों की आर्थिक सहायता से प्रस्तुत पुस्तक का यह संस्करण छपवा कर प्रकाशित किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि अन्य सज्जन भी ऐसे ऐसे उपयोगी ट्रैक्टों को छपवा कर प्रकाशित कराने में हाथ बटावेंगे।

श्रीमान् लाला न्यादरमल जी जैन सर्राफ मालिक फर्म कँवरसैन न्यादरमल जैनी सर्राफ बड़ा दरीबा देहली १००)

श्रीमान् लाला जुगलकिशोर जैन बहादरगढ़ १०)

निवेदक :—

प्रेमचन्द जैन

पुस्तक मिलने का पता :—

हीरालाल पन्नालाल, जैन-बुकसेलर,

दरीबाकलां, देहली।

भूमिका

यह पुस्तक इसीलिये लिखी गई है कि जैन अजैन प्राचीन जैन-मत का कुछ सार पाकर उसके अधिक जानने की कोशिश करें। इस छोटी सी पुस्तक में जो कुछ बताया गया है यदि उस पर अमल किया जायगा तो यह देखा जायगा कि तुर्त लाभ मिल रहा है। यह मानव जीवन सुख शांति मय हो रहा है। इस पुस्तक में प्रमाणीक आचार्यों के बचनों का हवाला दिया गया है जो नीचे भांति हैं—

श्री कुन्दकुदाचार्य्य	प्रसिद्ध विक्रम	सम्वत्	४९
श्री उमास्वामी	,,	,,	८१
श्री समन्त भद्र	,,	,,	१२५
श्री पूज्य पाद	,,	,,	४०१
श्री जिनसेनाचार्य	,,	,,	८९४
श्री गुण भद्राचार्य	,,	,,	९५५
श्री अमृत चंद्र	,,	,,	९६२
श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती	,,	,,	१०४०
श्री योगीन्द्र चन्द्र	प्राचीन समय		अप्रगट

पाठकों को उचित है कि इनके रचे हुए ग्रन्थों को पढ़ें और धर्म का आनन्द भोगें।

अब सर्व जैनों को मिलकर सनातन जैनमत की रीति से चलना चाहिये व इसका प्रचार करके करोड़ों मानवों को जैन धर्म का लाभ देना चाहिये। परोपकारियों को चाहिये कि उदार बने और धर्म की छाया में अनेकों को बिठाकर अपने समान करके परम पुण्य कमावें। जो सच्ची प्रभावना करते हैं वे जैनमत प्रचार करते हैं और वे ही तीर्थकरों के सच्चे भक्त हैं।

"अजिताश्रम", लखनऊ
वीर सं० २४५३ माहवदी ८
ता: २६–१–२७

ब्र० शीतलप्रसाद

❀ वन्देजिनवरम् ❀

सनातन जैनमत

दोहा

ऋषभ आदि महावीर लों, चौबीसों जिनराय।
हुए भरत इस काल में, वन्दो मन बचकाय॥

जैनमत एक बहुत प्राचीन मत है। जिस समय यहां ऋग्वेदादि में कथित सूर्य, अग्नि, इन्द्र की पूजा के मानने वाले आर्य लोग नहीं आए थे उस समय इस भरत क्षेत्र में यह जैनमत फैला हुआ था। तथा इसका प्रभाव दुनियां के दूसरे धर्मों पर भी अच्छी तरह पड़ा था। हमें इस पुस्तक में प्राचीनता के प्रमाण देकर नए पुराने का सवाल नहीं छेड़ना है; हमें तो यह बताना है कि सनातन जैनमत कैसा सुगम, वैज्ञानिक (scientific) और आत्मा की हर तरह की उन्नति करने वाला है तथा यह बहुत उदार है। इसको हर एक मन वाला समझदार प्राणी समझ सकता है व पाल सकता है—चाहे जिस देश का हो व चाहे जिस वंश का हो। प्राचीनता के सम्बन्ध में पाठकगण हमारी लिखित "जिनेन्द्रमत दर्पण" प्रथम भाग व "जैन-धर्म प्रकाश" पढ़ जावें—

यहां हम मात्र Major-General J. G. R. Forlong, F.R.S E., F.R.A S. मेजर जेनरल फर्लांग साहब की सम्मति प्रगट करते हैं जो उन्होंने "In his Short Studies in the Comparative Religion" अपनी पुस्तक "धर्म" में दी है—

"Long before Aryans reached the Ganges or even Sarasvati, Jains had been taught by some twenty two prominent Bodhas or Saints or Tirthankaras prior to the historic twenty-third Bodha, Parsva of the 8th or 9th century B. C., All upper, Western, North and Central India was then say from 1500—800 B.C. and indeed from unknown times—ruled by Turanians, conveniently called Dravids..............but there also then existed throughout Upper India an ancient highly organised religion, philosophical, ethical, and severely ascetical, viz. Jainism, out of which clearly developed the early ascetical features of Brahmanism and Budhism."

भावार्थ—आर्य लोगों के गंगा या सरस्वती नदी के पास पहुँचने के बहुत पहले जैन लोगों को बाईस तीर्थंकरों ने उपदेश दिया था जो ऐतिहासिक तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ से पहले हो गए थे यह पार्श्वनाथ सन् ई० से ८वीं व ९ वीं शताब्दी पहले हुए थे।

सब ऊपरी, पश्चिमीय, उत्तरीय, व मध्य भारत में तब सन् ई० से १५०० से ८०० वर्ष पहले या वास्तव में अनजान समय से तूरानी लोग या द्राविड़ लोग राज्य करते थे। तब इस ऊपरी भारत में एक प्राचीन और उच्च संगठित धर्म मौजूद था जो तत्वज्ञान पूर्ण, चारित्र-

वान, व कठिन तपयुक्त था अर्थात् वह जैनधर्म था जिसमें से प्राचीन ब्राह्मण और बौद्धों के तप के नियम प्रगट रूप से विकसित हुए थे।

जैनमत क्या सिखाता है?

जिस बात को हर एक बुद्धिमान प्राणी चाहता है उसीके पाने का सच्चा, सीधा और सुगम मार्ग यह जैनमत बताता है।

हर एक प्राणी सुख व शांति चाहता है। कोई भी नहीं चाहता है कि उसे कोई तरह का दुःख हो व वह किसी अशांति में पड़े। जिस समय परिणामों में या भावों में आकुलता, चिंता, घबड़ाहट, व फिक्र न हो उसी समय हर एक प्राणी अपने को सुखी मान लेता है—और यह बहुत ठीक भी है क्योंकि आकुलता या चिंता ही दुःख है तथा उसी का मिट जाना सुख है। इसी तरह कोई भी प्राणी मन को क्लेश मय, या दुःखी या गन्दा रखना नहीं चाहता है, कोई क्रोध करना चाहता नहीं, कोई लोभ करना चाहता नहीं, कोई मान करना चाहता नहीं, कोई मायाचार करना चाहता नहीं। यद्यपि दुनियां के साथ व्यवहार करते हुए ये क्रोध, मान, माया, लोभ हो जाते हैं और रात दिन यह मामूली प्राणी इन्हीं के आधीन पड़ा रहता है तथापि हर एक का आत्मा भीतर से शांति (peacefulness) और संतोष चाहता है, शांति के लिये ही जिनसे शांति रखने में विघ्न समझता है उनसे द्वेष करता है—उनको नीचा समझता है, उनसे क्रोध करता है। तथा संतोषी होने के लिये धन आदि सामग्री पाने का लोभ करता है और इसी के लिये मायाचार करता है। यद्यपि

इस अज्ञानी प्राणी को इस उपाय से न स्थिर शांति मिलती है और न स्थिर संतोष होता है तथापि भीतरी भावना हर एक प्राणी की यही है। कोई बकना व लड़ना नहीं चाहता परन्तु क्रोध के आवेश में बकता है, लड़ता है, महा दुःखी होता है पीछे जब क्रोध ठण्ढा होता है तब अपनी उस क्रोध की दशा को बुरा समझने लगता है। और मन में ऐसा सोचने लगता है कि क्रोध करना बहुत बुरा है यदि न करता तो ठीक था—इस सोचने का कारण यही है कि उसको क्रोध के समय बड़ी अशांति का सामना करना पड़ा था। इसी तरह एक आदमी भारी लोभ में फंसकर किसी का माल उठा ले जाता है और वह उठाता भी इसीलिये है कि इससे उसको संतोष आवे अर्थात् वह अपनी आशा का गड्ढा भरे परन्तु जब वह पकड़ा जाता है और दंड पाता है तब सिवाय उस प्राणी के जिसका मन लगातार चोरी करने से व दंड पाने से विवेक शून्य, व ढीठ हो गया है हर एक कुछ भी विचार रखने वाला प्राणी पछताता है और सोचता है कि यदि यों ही धन मिल जाता तो वह चोरी नहीं करता और इस अशांति में नहीं आकर गिरता। प्रयोजन दिखाने का यही है कि इस चोर को भी शांति और संतोष ही प्यारा है। किसी इच्छा के पैदा होने पर उसके पूरा करने की चिन्ता होती है। जब तक वह पूरी न हो उसके सम्बन्ध में लोभ रहता है, इसी लोभ के भरने के लिये मायाचार करता है। यदि कोई इसके उपाय में विघ्न करता है तो उससे क्रोध करता है, उसको नीच व अपने को ऊंच समझ कर मान करता है। यदि इच्छा के अनुसार काम हो जाता है तब उस इच्छा के भरने से वह उस समय संतोष, शांति व सुख पा

लेता है ; क्योंकि उसकी पिछली चिंता या घबड़ाहट मिटी इसीसे उसे सुख व शांति मिली। यह दशा बहुत ही अल्पकाल रहती है। एक मिनिट भी नहीं बीतता है कि दूसरी अनेक इच्छाएं जो बिना पूरी की हुई पड़ी हैं उनको पूरा करने की फिक्र में लग जाता है अथवा जो एक इच्छा पूरी हुई उसी किस्म की और जोरदार इच्छा पैदा हो जाती है। जैसे किसी स्त्री को देखना चाहता था—यदि देख करके कुछ संतोष पाता है तब दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है कि इसके साथ बातचीत करूं—यदि यह इच्छा पूरी हो जाती है तब चाहता है कि इसका स्पर्श करूं—जब यह भी इच्छा पूरी हो जाती है तब चाहता है कि इसके साथ भोग करूं—जब यह इच्छा एक दफे पूरी हो जाती है तब बारबार भोगने की इच्छा पैदा हो जाती है। यदि इस इच्छा की पूर्त्ति में बाधाएं होती हैं तो बड़ा दुःख मानता है। यदि यह भी इच्छा पूरी होती रहती है तब यह चाहता है कि यह स्त्री कभी रोगी न हो, इसका कभी वियोग न हो, हम कभी रोगी न हों, व हम कभी मरें नहीं—हम और यह स्त्री दोनों सदा बने रहें—यदि कदाचित् वह स्त्री मर जाती है वह अत्यन्त असन्तुष्ट, अशान्त व दुःखी हो जाता है। इस तरह हर एक इच्छा का हाल समझ लेना चाहिये।

बहुतों की इच्छा तो पूरी होती नहीं। व अधूरी चौथाई पूरी हुई तो वे पदार्थ जिनके भोगने से सुख व शांति चाहता है एक सी दशा में नहीं रह सकते, न आप भोगने वाला एक सी दशा में रह सकता है। बस, वियोग होता है और अशांति तथा दुःख का सामना पड़ जाता है।

श्री रामचन्द्र जी और सीता जी का जीवन इस बात का सर्व मान्य उदाहरण है। दोनों के प्रेम में व भोग में बड़े बड़े विघ्न आए। अन्त में सीता जी तो इस विषय भोग की इच्छा को दुःख का मूल कारण समझ कर आत्म रस पीने से ही सुख शांति होगी इस भावना को ले साध्वी (आर्यिका) हो गईं। तब रामचन्द्रजी जो उस समय सीता के मोह से छुटे नथे व उसके भोग को चाहते थे अपनी इच्छा के भीतर बाधा पड़ने से बहुत दुःखी हुए—इस दुनियां में इच्छाओं का होना ही आकुलता है यही रोग है जिसकी दवा हर एक प्राणी जहाँ तक होता है किया करता है। अन्त में मरते वक्त भी बहुत सी इच्छाओं को पूरा न कर सकने के कारण निराश व असन्तुष्ट व दुःख रूप ही होकर प्राण छोड़ता है।

संसार में जीव छः प्रकार के हैं—

१ एकेन्द्रिय जीव—जो वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु काय धारी—इनके स्पर्श इन्द्रिय (छूने की) सम्बन्धी इच्छाएं होती हैं।

२ द्वेन्द्रिय जीव—लट, संख, कौड़ी आदि इनके छूने व स्वाद लेने की इच्छाएं होती हैं।

३ तेन्द्रिय जीव—चींटी, खटमल, जूं आदि उनके छूने, स्वाद लेने, व सूंघने की इच्छाएं होती हैं।

४ चोन्द्रिय जीव—मक्खी, भौंरा, पतंगा आदि इनके छूने, स्वाद, लेने, सूंघने तथा देखने की इच्छाएं होती हैं।

५ पंचेन्द्रिय जीव बिना मनके—पानी के कोई कोई सर्प,

जंगली तोते आदि बिना गर्भ के पैदा होने वाले—इनके छूने, स्वाद लेने, सूंघने व देखने व सुनने की इच्छाएं होती है।

६ मनवाले पंचेन्द्रिय—घोड़ा, गाय, बन्दर, ऊँट, हाथी, काक, मोर, कबूतर, नाग, मच्छ, मनुष्य, देव, नारकी आदि इनके पाँचों इन्द्रियों के इच्छाओं के सिवाय मन के भीतर उठने वाले अनेक संकल्पों के पूरा करने की अनगिनती इच्छाएं होती हैं। जैसे मानवों में देखी जाती हैं। इसलिये यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि हरएक संसार का प्राणी इच्छाओं की आकुलता से दुःखी है। और उनकी पूर्ति के लिये जब तक जीता है तब तक कोशिश करता है परन्तु कभी ऐसी दशा में नहीं पहुँचता जब इसको इच्छाएं सर्व पूरी हो जावें और यह निराकुल या स्थिर सुखी हो जावे। बड़े बड़े कुटुम्बी धनवान पुत्र होने पर पौत्र, पौत्र होने पर प्रपौत्र इत्यादि का मुंह देखना चाहते हैं और आप सदा बलवान, निरोगी व अमर होना चाहते हैं पर विचारे अन्त में निर्बल रोगी होकर इस शरीर से छूट जाते हैं तब भी उनकी इच्छाएं नहीं मिटती हैं।

हर एक विचारवान प्राणी को स्वयं अपने जीवन पर ध्यान देना चाहिये। वह यही देखेगा कि उसकी इच्छाएं जितनी जितनी पूरी होती हैं उतनी उतनी बढ़ती चली जाती हैं।

सच बात यह है कि जैसे समुद्र नदियों के मिलने पर भी भरता नहीं व अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती, उसी तरह इच्छाओं व आशाओं का बड़ा भारी गड्ढा किसी का भर नहीं सकता।

स्वामी गुण भद्राचार्य आत्मनुशासन में यही कहते हैं—

आशा गर्त्तः प्रति प्राणि,
यस्मिन् विश्वमणूपम् ।
कस्य किं कि यदायाति,
वृथावो विषयैषिता ॥३६॥

भावार्थ—हर एक प्राणी के भीतर आशा या इच्छा का गड्ढा इतना गहरा है कि उसके भीतर यदि सर्व जगत के भोग्य पदार्थ डाल दिये जावें तब भी वह सब एक अणु के बराबर हो जांयगे। अर्थात् उसकी आशा पूरी नहीं होगी और जगत के पदार्थ तो जो हैं सो हैं। किस किस के हिस्से में क्या क्या वस्तु आयगी क्योंकि लेने वाले अनन्त प्राणी हैं इससे तुम्हारी विषय भोग की इच्छाएं वृथा हीं है पूरी कभी नहीं हो सकतीं हैं।

स्वामी श्रीमन्त भद्र आचार्य स्वयं भू स्तोत्र में कहते हैं—

तृष्णा र्चिषः परिदहन्ति न शान्ति,
रासा-मिष्टेन्द्रियार्थ विभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैवकाय परिताप हरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषय सौख्य पराङ्मुखोऽभूत् ॥८२

भावार्थ—तृष्णा की अग्नि ज्वालाएं प्राणियों को जलाती हैं। इनकी शांति इन्द्रियों के पदार्थों के भोगने से भी नहीं होती। उल्टी

भोगों से इन इच्छा की ज्वालाओं की बढ़ वारी ही होती है। जब तक कोई विषय भोग ठहरता है तब तक कुछ काल का तम हरस का निमित्त है। परन्तु न पदार्थ एक सी दशा में ठहरता न ताप ही बुझता। ऐसा समझ कर आत्म-ज्ञानी जीवों ने विषयों के सुखों से मुँह मोड़ लिया।

प्यारे पाठको! इस दुनियां की हालत पर अच्छी तरह विचार करोगे तो यही झलकेगा कि यह सब दुनियां इच्छाओं की गुलामी करती हुई दु:ख उठा रही है। सारी दुनियां के प्राणी सुख शान्ति चाहते हैं परन्तु इच्छाओं की गुलामी करते हुए कभी कुछ राई के समान क्षणिक सुख पा लेते है परन्तु पर्वत के समान दुख: क्लेश आकुलता उठाते हैं। इच्छाओं (Desires) की गुलामी (Slavery) में न कभी किसी ने आज तक स्थिर सुख पाया है, न कभी कोई स्थिर सुख पा सकता है। जो इन्द्रियों के विषय भोगों से ही सुख मिलेगा इस रुचि के धारी हो कर जिन्दगी भर तक परिश्रम करते हैं वे सब असंतोषी, अशांत व आशाओं के समुद्र के डूबे हुए ही इस शरीर को छोड़ चले जाते हैं।

जिस महमूद गजनवी ने विषय भोगों के लिये हजारों हिन्दुओं के मंदिरों को विध्वंशकर अरबों धन एकत्र किया उसको अपने प्राण छोड़ने के समय भोग न सकने के कारण व उस धन के लिये अनेकों को कष्ट देने के कारण दीन दु:खी हो रोना पड़ा और आर्त-ध्यान से मरकर अशांति से प्राण छोड़कर अशांति मयी ही दशा में जाना पड़ा। जब यह संसारिक दशा है तब यह प्राणी क्यों नहीं समझता है और क्यों नहीं इन इन्द्रियों के भोगने की इच्छा छोड़ता है?

इसका जवाब यही है कि इसको सुख और शांति चाहिये, उसको मिलने का मार्ग इस अज्ञानी को दूसरा कोई दिखता नहीं। वह यही समझे हुए हैं कि विषय भोग से ही सुख शांति मिलती है। इसका ऐसा समझना बिलकुल असत्य नहीं है। जिस समय विषय भोग होता है पिछली इच्छा मिटने से कुछ सुख शांति झलकती है; परन्तु यह बहुत थोड़ी देर रहती है और बुराई यह है कि तुर्त और इच्छा पैदा हो जाती है जिससे अशांति और असंतोष बढ़ जाता है।

इस विषय भोग से स्थिर सुख शांति मिलना व अशांति, दुःख व असंतोष का मिटना सर्वथा ही असंभव है—यह बात अनुभव से हर एक प्राणी समझ सकता है; इसलिये यह उपाय सच्चा नहीं है जिससे इच्छाओं का रोग मिटे। यह तो ऐसा ही है जैसा किसी कवि ने कहा है—

मर्ज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।

हमें ऐसा उपाय ढूँढ़ना चाहिये जिससे हमें स्थिर सुख शांति मिले और इच्छाओं का रोग मिट जावे।

सच्चे सुख का उपाय अपने में ही है

सुख शांति वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। अपने ही भीतर सुख शांति पूर्ण भरी हुई है। इस बात को हम थोड़ा भी विचार करें तो तुर्त समझ सकते हैं। शांति का नाश क्रोधादि विकारों से

होता है। यह हम अनुभव करते हैं कि जब क्रोधादि भाव होते हैं तब अशांति तथा दुःख होता है, और जब ये नहीं होते हैं तब शांति तथा सुख होता है। एक आदमी बहुत देर क्रोध नहीं कर सकता क्योंकि यह अपना स्वभाव नहीं है परन्तु शांत भाव में बहुत काल रह सकता है क्योंकि शांति हमारे आत्मा का स्वभाव है।

क्रोधादिभाव किसी दूसरे निमित्त से होते हैं जिसका वर्णन आगे किया जायगा। जैसे जल उसी समय तक गर्म रहेगा जब तक गर्मी का सम्बन्ध है जो अग्नि के निमित्त से पैदा हुई है; परन्तु शीतलता उसमें सदा ही पाई जा सकती है—इसीलिये शीतलता जल का स्वभाव है। इसी तरह आत्मा का स्वभाव सुख शांतिमय है—जो आत्मा में तिष्ठेगा वह सुख शांति का अनुभव करेगा।

जब आत्मिक सुख शांति का मजा आने लगता है तब उसके मुकाबले में संसारिक सुख तुच्छ दिखलाई पड़ता है। बस, यही कारण इच्छाओं के घटाव का है। एक आत्म-ध्यानी गृहस्थ के दिलों में आवश्यक कार्य सम्बन्धी इच्छाएं बाकी रह जाती हैं। बे जरूरी बहुत सी इच्छाएं मिट जाती हैं—ऐसा तत्व-ज्ञानी इच्छाओं का दास नहीं रहता हैं—यदि इच्छाएं पूर्ण नहीं होती हैं तो अधिक चिन्ता नहीं करता है। आत्म-ध्यान के अभ्यास से जितना जितना आत्मानन्द का लाभ मिलता जाता है उतना उतना उसका वेग विषय सुखों की तरफ घटता जाता है। बस! सुख शांति के पाने का और इच्छाओं के वेगों के रोकने का एक मात्र उपाय आत्मा का ध्यान है—इस ही को जैनमत ने धर्म कहा है व मुक्ति का मार्ग

बताया है। यह मार्ग उसी मीठी अमृतमई औषधि के समान है जिससे वर्तमान में भी मुँह मीठा हो और आगे भी आत्मा की पुष्टि हो। सदा से ही इस जगत में तीर्थ कर व अन्य महान पुरुषों ने सुख शांति पाने के लिये व इच्छाओं के रोग मेटने के लिये आत्मध्यान ही का अभ्यास किया और आप ही अपने पुरुषार्थ से इच्छाओं के रोग से छूट गए और सदा के लिये सुख व शान्ति के भोक्ता हो गए।

मोक्ष उसी को ही कहते हैं जहां सर्व इच्छाएं व इच्छाओं के कारण मिट जावें व यह आत्मा स्वतंत्र व सुखी हो जावे—इस मोक्ष का उपाय जैनमत में रत्नत्रयधर्म बताया गया है।

श्रीकुन्द कुन्दाचार्य जी समयसार जी में कहते हैं—

णाणह्मि भावणा खलु
    का दव्वो दंसणेचरित्तेय।
तेपुण तिण्णिवि आदा
    तम्हाकुण भावणंआदे ॥११॥
जो आद भावण मिणं
    णिच्चुवजुत्तो मुणीसमाचरदि।
सो सव्व दुक्ख मोक्खं
    पावदि अचिरेण कालेण ॥१२

दंसण णाण चरित्ताणि
सेविदव्वाणि साहुणाणिच्चं ।
ताणि पुणजाण तिण्णिवि
अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१९॥

जहणाम कोविपुरिसो
रायाणंजाणि ऊण सद्दहदि ।
तोतं अणुचरदि पुणो
अत्थत्थी ओ पयत्तेण ॥२०॥

एवं हिजीवराया
णादव्वो तहयसद्दहेदव्वो ।
अणु चरि दव्वोय पुणो
सो चेवदु मोक्ख कामेण ॥२१॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र में भावना करनी चाहिये ये ही तीन रत्न हैं परन्तु वे तीन ही आत्मा है इसलिये आत्मा में भावना करे ॥११॥ जो मुनि नित्य उपयोग लगाकर आत्मा के भाव का आचरण करता है वह शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥१२॥ साधु को नित्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र का सेवन करना चाहिये। परन्तु वे तीन आत्मा ही

है ऐसा निश्चय से जानो ॥१९॥ जैसे कोई धन को चाहने वाला पुरुष राजा को जान कर उसका श्रद्धान करता है और फिर उसी राजा की उद्योग करके सेवा करता है ॥२०॥ इसी तरह जो मुक्ति चाहता है उसको उचित है कि आत्मारूपी राजा को जाने, उस पर रुचि लावे तथा उसका ही आराधन या ध्यान करे—

श्री उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में भी यही कहा है।

"सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

भाव यह है कि अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उसी ही का संशय रहित यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही के स्वरूप में एकचित्त हो आचरण करना सम्यग्चारित्र है—ये तीनों आत्मीक गुण हैं। आत्मा से भिन्न नहीं हो सक्ते। इसलिये जो आत्मा का ध्यान करता है वह सुख शांति पाने व स्वाधीन होने के मार्ग पर चलता है और कभी न कभी परमसुखी, परमशांत और बिलकुल स्वाधीन हो जाता है।

आत्मा का क्या स्वभाव है ?

हमको आत्मा का स्वभाव जैसा वह शुद्ध अवस्था में होता है। विचारना है। यद्यपि हम आत्मा हैं परन्तु संसार अवस्था में हम अशुद्ध हैं, पाप पुण्यमई कर्मों के बंधन में जकड़े हुए हैं, इसी से क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, भयवान, इच्छावान, दुःखी व सुखी,

व अज्ञानी, मानव या पशु आदि की अवस्था में वर्तन कर रहे हैं। संसारी आत्माओं ने अनेक भेष बना रक्खे हैं। इन भेषों का वर्णन व इनके होने व छूटने का वर्णन करना व जानना शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं कराता है—इसी से इस सर्व कथन को व्यवहारनय (from practical point of view) से समझाया या कहा जाता है। जिस दृष्टि से किसी पदार्थ का असली स्वाभाव समझाया या कहा जाय वह निश्चयनय (real point of view) है।

जैनसिद्धान्त में दोनों नयों को ध्यान में लेकर आत्मा के शुद्ध होने की बात बताई है। जब किसी अशुद्ध वस्तु को शुद्ध करना होता है तब उसको दोनों पहलुओं से देखना पड़ता है कि यह असल में क्या है व इस पर मैल कैसे चढ़ा है व मैल कैसे उतर सकता है। मैले कपड़े में यह ज्ञान होना कि यह सफेद रुई का बना हुआ असल में सफेद है निश्चय नय से है। तथा यह मिट्टी के मिलने से मैला है तथा इसको रगड़ने व पानी से धोने से यह साफ हो सकता है ऐसा जानना व्यवहार नय से है। जब हम इन दोनों बातों को जानेंगे तब ही कपड़े को स्वच्छ कर सकेंगे। यदि हम कपड़े का असली स्वभाव न जानें तो हमें कपड़े के साफ होने का विश्वास न होगा और यदि हम कपड़े को मैला न समझें व मैला निकालने का उपाय न जाने तब हम कपड़ेको धोने का उपाय नहीं कर सकते। इसीसे यह सिद्ध है कि कपड़े की स्वच्छता का होना निश्चय और व्यवहार नयों के आधीन है—स्वामी कुंद कुदाचार्य समयसार में कहते हैं—

ववहारोऽभूदत्था भूदत्थोदे
सिदोदु सुद्धणओ।

भूदत्थमस्सिदो खलु
सम्मा दिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

भावार्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् जैसा पदार्थ असल में है वैसा नहीं बताता है—उसकी अन्य प्रकार की दशाएं बताता है, अर्थात् उसके अनेक भेषों को समझाता है। जब कि शुद्ध नय या निश्चय नय सत्यार्थ है क्योंकि सर्व असली पदार्थ को बताने वाला है ऐसा उपदेश किया गया है। असल में जो जीव इस सत्यार्थ निश्चय नय का आश्रय करता है अर्थात् असली स्वभाव पर ध्यान लगा कर आत्मा का अनुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि जीव है।

आत्मा शुद्ध स्वयं कहता है कि (अतति जानाति इस आत्मा) कि वह एक जाननेवाला पदार्थ है। हमारे भीतर ज्ञान शक्ति काम कर रही है यह बात हम अच्छी तरह जान रहे हैं—हम शरीर से छू कर गर्म, ठंढा आदि, जबान से चाखकर मीठा खट्टा आदि, नांक से सूंघकर सुगंध दुर्गंध आदि, आँख से देखकर सफेद पीला आदि, कान से सुनकर सुस्वर दुःस्वर आदि का ज्ञान करते हैं। जब तक कोई जिन्दा कहलाता है तब ही तक इन पांचों इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है। मुरदा शरीर इन्द्रियों के आकार रखने पर भी नहीं जान सकता है। क्योंकि उस शरीर में से ज्ञान शक्ति को रखनेवाला ज्ञानी आत्माचल दिया है।

आत्मा जड़ अचेतन पदार्थों से एकजुदा चेतनामई पदार्थ है, जो कोई ऐसा मानते हैं कि जड़परमाणुओं के विकाश से चेतन शक्ति

पैदा हो जाती है—उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि न तो कभी अचेतन से चेतन बन सकता है न किसी ने आजकाल बना के बताया है। जड़ परमाणुओं में सदा जड़पना व अजानपना रहेगा—इसलिये उनसे बनी हुई वस्तु में भी वही अजानपना या जड़पना रहेगा। क्योंकि हर एक अवस्था जो इस दुनियां में पैदा होती है वह किसी वस्तु की ही होती है जिसकी अवस्था में भी वेही गुणपाए जाते हैं जोमूल वस्तु में होते हैं। सुवर्ण से सुवर्ण के व लोहे से लोहे के बर्तन ही बनेंगे। जैसे अमूर्त्तीक जड़ आकाश से मूर्त्तीक जड़ पदार्थ या अमूर्त्तीक चेतन पदार्थ नहीं पैदा हो सकते हैं। वैसे मूर्त्तीक जड़ पदार्थ से अमूर्त्तीक या चेतन पदार्थ नहीं पैदा हो सकते हैं। जड़ की बनी चीजों में स्मृति, ज्ञान, विचार व भिन्न भिन्न भावों का पलटना नहीं हो सकता है। जड़ से बनी धूप, छाया, रोशनी एकसी दशा में जब तक वे रहें रहेंगी, वे इच्छानुसार घट या बढ़ नहीं सकती है—परन्तु जिन प्राणियों में जीव है वे इच्छानुसार कांम करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। एक चींटी चलते चलते रुक जाती है—कहीं पर सुगंध पाकर दौड़ जाती है। "मैं जानता हूँ" "मैं भोगता हूँ" "मैं सुखी हुआ" "मैं दुःखी हुआ" इत्यादि ज्ञान जड़ को नहीं हो सकता है—इसलिये जो यह सब ज्ञान रखता है उसी को आत्मा कहते हैं—इसलिये आत्मा को जड़ से भिन्न स्वतंत्र चेतन पदार्थ ही मानना चाहिये— जैसे जड़ परमाणु अमर अविनाशी हैं वैसे सर्व आत्माएं इस लोक में अमर अविनाशी हैं। जब यह नियम है कि सत् (मौजूदा) पदार्थ कभी असत् (गैर मौजूदा) नहीं हो सकता अथवा असत् पदार्थ कभी सत् नहीं हो सकता तब यह सिद्ध

है कि जड़ या चेतन जितने भी पदार्थ इस जगत में हैं वे सब मूल में अमर और अविनाशी हैं।

निश्चय नय से इस आत्मा का स्वभाव स्वामी कुंदकुंदाचार्य जी ने समय सार में इस भांति कहा है :—

अह मिक्को खलु सुद्धो,
दसण णाणमइओ सयारूवी।
णवि अत्थिमज्झ किंचिव,
अण्णंपरमाणु मित्तं वि ॥४३॥

भावार्थ—ज्ञानी को ऐसा अनुभव करना चाहिए कि मैं आत्मा सदा एक सबसे निराला हूँ, शुद्ध वीतराग हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ, व अमूर्त्तीक हूँ—अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है—यह आत्मा अन्य पांच अजीव द्रव्यों से जुदा है—जैनमत कहता है कि यह जगत छः द्रव्यों का समुदाय है। ये छः द्रव्यसत् अविनाशी हैं, व अकृत्रिम हैं। इसी लिये इन छः द्रव्यों का समुदाय यह जगत भी सत अविनाशी और अकृत्रिम है।

आत्मा के सिवाय आत्मा से भिन्न लक्षणधारी पुद्गल धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं—जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाया जावे ऐसे परमाणु या स्कंध सब पुद्गल हैं।

जिनमें मिलने व बिछड़ने की शक्ति होती है उनको ही पुद्गल कहते हैं—जीव और पुद्गल हलन चलन करते हैं, ठहरते हैं, अवकाश पाते हैं तथा अवस्था बदलते हैं। इनचारों कामों में सहकारी

मूलद्रव्य चार हैं—चलन सहकारी उदासीन कारण धर्मास्तिकाय है, ठहरने में सहकारी अधर्मास्तिकाय है, स्थान देने में सहकारी आकाश है और अवस्था पलटने का निमित्तकाल द्रव्य हैं। इन सबसे व अन्य अनन्त आत्माओं से यह एक आत्मा जुदा है—इसमें यह शक्ति है कि सर्व को देख सकता है व सर्व को जान सकता है—यदि आत्मा में यह शक्ति पूर्ण नहीं होती तो कोई का ज्ञान कभी नहीं बढ़ता। जब एक अध्यापक अपने किसी शिष्य को पढ़ाता है तब अपने ज्ञान को बिना कम किये हुए ही शिष्य के ज्ञान को बढ़ाता है। जब अध्यापक का ज्ञान घटा नहीं उल्टा पढ़ाने से बढ़ गया, और शिष्य का भी बढ़ा तब ज्ञान कहां से आया—इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि ज्ञान कोई किसी को देता लेता नहीं—दूसरे के निमित्त से ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण या परदा हट जाता है और ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है—इसलिये हर एक आत्मा में पूर्ण ज्ञान की शक्ति है—

इसी तरह आत्मा का स्वभाव परम शान्त है, क्रोधादि विकार करना नहीं है क्योंकि ज्ञान के साथ शान्ति की मित्रता है और अशान्ति का विरोध है, सुख भी आत्मा का स्वभाव है—यह सुख मोह और अज्ञान के कारण नहीं झलकता है। जो पर पदार्थों से मोह छोड़कर आत्मा की ओर चित्त देता है उसे तुर्त सुख का स्वाद आता है। जो स्वार्थ त्याग कर पर का उपकार करते हैं उनको जो सुख भासता है वह इस सच्चे आत्मिक सुख का विकाश है।

श्री पूज्यपाद स्वामी जी ने इष्टोपदेश में आत्मा का स्वभाव इस प्रकार बताया है :—

स्वसंवेदनसुव्यक्त स्तनु-
मात्रो निरत्ययः ।
अत्यंत सौख्यवानात्मा
लोका लोक विलोकनः ॥२१॥

भावार्थः—यह आत्मा यद्यपि निश्चय से इस जगत के बराबर फैलने वाला है तथापि प्रत्येक शरीर में शरीर प्रमाण आकार में व्यापक है, नाश रहित है, लोक व अलोक को देखने वाला है तथा अत्यन्त सुखी है तथा जो मन की वृत्ति को रोककर अपने में ही विश्राम करता है उसे स्वानुभव के द्वारा भले प्रकार प्रगट होता है।

श्री अमृतचन्द्र आचार्य समयसार कलश में कहते हैं—

आत्म स्वभावं परभाव भिन्न,
मापूर्णमाद्यंत विमुक्त मेकं ।
विलीन संकल्प विकल्प जालं,
प्रकाशयन् शुद्ध नयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

भावार्थ—आत्मा का स्वभाव परभाव अर्थात् सर्व आत्मा से व सर्व अनात्म द्रव्य से व औपधिक रागद्वेषादि भावों से जुदा है, अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध गुणों से परिपूर्ण है, आदि व अन्त रहित हैं, एक है, संकल्प विकल्प के जालों से शून्य है ऐसा निश्चयनय बताता है।

यह आत्मा सदा बने रहने की अपेक्षा नित्य है। समय समय समुद्र तरंगों की तरह परिणाम पलटने की अपेक्षा अनित्य है। अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्ति रूप या भाव रूप है परके स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप या अभावरूप है। अत्यन्त गुण व पर्यायों का समुदाय होने से एक रूप है तथा एक एक गुण व पर्याय आत्मा के सर्वांश में व्यापक है इससे आत्मा अपने रूप है जैसे ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान रूप, सुख गुण की अपेक्षा सुख रूप, वीतरागता की अपेक्षा वीतराग रूप।

भिन्न भिन्न दृष्टि बिंदुओं से अनेक स्वभावों को वस्तु में बताने वाला होने से जैनमत को अनेकान्त मत कहते हैं। अनेक धर्मों के साधने के लिये ही स्याद्वाद सिद्धान्त है—स्यात् = किसी अपेक्षा से, वाद = कहना—जैसे स्यात् एकः = समूह की अपेक्षा एक है, स्यात् अनेकः = अनेक प्रथक् प्रथक् गुण व स्वभावों की अपेक्षा अनेक रूप है। इसी स्याद्वाद को बताने के लिए श्री उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में यह सूत्र दिया है।

अर्पितानर्पितासिद्धेः ॥३२।५॥ अर्थात् जिस स्वभाव को बताना हो उसको अर्पित या मुख्य करलो दूसरों को अनर्पित या गौणकर दो क्योंकि एक साथ कई स्वभावों का वर्णन हो नहीं सकता है। वचन में यह शक्ति नहीं है—निश्चय नय से आत्मा परम पवित्र ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक, परम शांत व परमसुखी है व हर एक के शरीर में व्यापक है ऐसा समझना चाहिये यह शक्ति रूप परमात्मा ही है।

जैनियों में सात तत्त्व ।

जैनियों में सात तत्त्व व्यवहारनय से आत्मा की अशुद्ध अवस्था को समझाने व अशुद्ध से शुद्ध होने के उपाय बताने के लिए बताए गए हैं।

(१) जीव और (२) अजीव तत्त्वमेंछःमूलद्रव्यगर्भित हैं जिनको पहले बताया जा चुका है—इन्हीं में पुद्गल द्रव्य के बने हुए कार्मणस्कंध बहुत सूक्ष्म सर्व जगह व्यापी हैं। इनहीं से जीवों का कार्मण देह या पुण्य पापमई कारणदेह निरन्तर बनता रहा है। इस तरह जीव और अजीव कर्म बंध इन दोनों के सम्बन्ध का नाम संसार है तथा इन दोनों के छूटने का नाम मोक्ष है।

(३) आश्रवतत्त्व बताता है कि मन वचन काय के हिलने से तथा मिथ्या श्रद्धान, हिंसादि भाव, व क्रोधादि भावों के निमित्त से आत्मा सकंप होता है तब चारों तरफ के कार्मणस्कंध आ जाते हैं। जिन भावों से कर्म आते हैं उनको भावास्रव और कर्मों के आने को द्रव्यास्रव कहते हैं।

(४) बंधतत्त्व बताता है कि वे कर्म आकर आत्मा के क्रोधादि भावों के निमित्त से किसी काल की मर्यादा को लेकर पुराने कार्मण शरीर के साथ बंध जाते हैं। जिन भावों से बंधते हैं उनको भाव बंध व कर्म बंध को द्रव्य बंध कहते हैं।

(५) संवरतत्त्व—कर्मस्कंधों को रोकने के लिये जिन भावों से कर्म आते हैं उनसे विरोधी भावों को करने से आते हुए कर्म रुक जाते हैं। जैसे मिथ्याश्रद्धान का विरोधी सच्चा श्रद्धान है, हिंसादि

पंच पापों के विरोधी अहिंसादि पंचव्रत हैं, कषायों का विरोधी वीतराग भाव है, मन वचन काय का विरोधी इनको वश रखना है। जिन भावों से कर्म रुकते हैं वह भाव संवर है और कर्मों का रुकना द्रव्य संवर है।

(६) निर्जरातत्त्व—पुराने बंधे हुए कर्मों को दूर करने को निर्जरा कहते हैं—कर्मस्कंध बंधने के पीछे धीरे धीरे अपना फल देकर झड़ते जाते हैं। जैसे हम स्वयं भोजन जल हवा लेते व स्वयं उनका फल नित्य भोगते हैं वैसे संसारी जीव स्वयं पुण्य पाप कर्म बांधते हैं और उनका सुख दुःख फल भोगते हैं। इसके सिवाय आत्म-ध्यान व वीतराग भाव के द्वारा बिना फल भोगे हुए अनेक कर्म-स्कंधों को आत्मा से जुदा करना सो वास्तव में निर्जरातत्त्व है। जिन शुद्ध वीतराग भावों से कर्म झड़ते हैं वह भावनिर्जरा है तथा कर्मों का झड़ना सो द्रव्य निर्जरा है।

(७) मोक्षतत्त्व—आत्मध्यान के अभ्यास से सब कर्म बंध कट जाते हैं—व नए कर्म नहीं बंधते हैं तब यह जीव कार्मण देह से छूट कर बिलकुल शुद्ध हो जाता है तब जिस शरीर से मुक्त होता है उस शरीर के आकार जैसे आत्मा के प्रदेश थे उनका वैसे ही स्थित रहना व स्वभाव से ऊपर जाकर लोक शिखर पर ठहर जाना सो मोक्ष है। जिन भावों से सब कर्म स्कंध छूट जाते हैं वह भाव मोक्ष है और सब कर्मों का छूट जाना द्रव्य मोक्ष है।

इन सात तत्वों से यह ज्ञात होता है कि यह आत्मा अशुद्ध कैसे होता है व अपनी अशुद्धता को कैसे मेट सकता है। यह व्यवहारनय से आत्मतत्व का ज्ञान है। जैनमत कहता है कि निश्चय

और व्यवहारनय से जानने वाला ही सच्चे तत्त्वज्ञान को पाता है और आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमणकर सुख शांति का भोग ले सकता है।

श्री अमृतचंद्र आचार्य पुरुषार्थ सिद्धु पाय में कहते हैं :—

व्यवहार निश्चयोय:
प्रबुध्यतत्त्वेन भवतिमध्यस्थ:
प्राप्नोति देशनाय: सएवफल
मविकलं शिष्य: ॥८॥

जो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को सच्चा जानकर वीतरागी हो जाता है वही शिष्य जैनमत के उपदेश के पूर्ण फल को पाता है।

आत्मा को शुद्ध करने का व सुख शांति पाने का उपाय भी वही आचार्य बताते हैं—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य
सम्यग्व्यवस्य निज तत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव
पुरुषार्थसिद्धुपायोऽयम् ॥१५॥

भावार्थ—जो उल्टा भाव या भूल भरी बात को हटाकर, अच्छी तरह अपने आत्मा के स्वभाव को समझ लेते हैं; फिर उस स्वभाव में ठहरते हैं वे ही मुक्ति रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि कर पाते हैं। जैनमत ने सच्चे सुख के पाने का उपाय एक आत्म-ध्यान को ही बताया है।

आत्म-ध्यान का उपाय

आत्म-ध्यान करना कोई कठिन काम नहीं हैं—इसके लिये सब से जियादा आवश्यक बात यह है कि मन को ध्यान के समय राग, द्वेष मोह से हटाया जावे। संसार के सब पदार्थों से मोह छोड़ दिया जावे, नकिसी से राग किया जावे न द्वेष। उस समय यह समझे—

"हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा"

अपने शरीर से भी ममता हटा ली जावे, मात्र अपना लक्ष्य आत्मा के स्वरूप पर रक्खा जावे जिसको निश्चयनय से जाना है व जिसकी ओर रुचि पैदा की है। यह नियम जिधर रुचि होती है उधर मन अपने आप चला जाता है।

श्रीपूज्यपाद स्वामी समाधि-शतक में कहते हैं:—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तंतत्रैव लीयते॥९५॥

भावार्थ—जिस किसी वस्तु को यह आत्मा बुद्धि से समझ लेता उसी में ही इसकी रुचि पैदा हो जाती है। व जिस किसी में रुचि हो जाती है वहीं चित्त लय हो जाता है। आत्मा में रुचि पैदा करने के लिये सच्चे सुख शांति का प्रेम आवश्यक है। तथा आत्मा के सच्चे स्वभाव का विश्वास होना चाहिये—तब आत्मा को जब ध्यान करना हो तब अपने शरीर में ही व्याप्त निर्मल जल के समान शुद्ध आत्मा को देखे। 'शुद्ध स्वरूपोऽहं' इस वाक्य को कहता रहे व

कभी कभी विचारता रहे कि मैं शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमई एक परम पदार्थ हूँ—इसी प्रकार की भावना बारबार करने से चित्त कुछ कुछ थमने लग जायगा और ध्याता को ध्यान का लाभ पल विपल के लिये होने लग जायगा। आत्म ज्ञान ही आत्म ध्यान का साधक है ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार कलश में कहा है:—

सिद्धान्तोयमुदात्त चित्त,
चरितै मोक्षार्थिभिः सेव्यतां।
शुद्धं चिन्मय मेकमेव परमं,
ज्योतिः सदै वास्म्यहं।
एते ये उस मुल्ल सन्ति,
विविधा भावाः पृथग्लक्षणा।
स्नेहं नास्मि यतोत्र,
ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६॥

भावार्थ—सिद्धान्त यह है जिसे निर्मल चारित्रधारी मोक्ष के चाहने वालों को सेवना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमई उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति हूँ और जो कुछ रागादि भाव झलक रहे हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं वे मेरे रूप नहीं है। क्योंकि वे सब मेरे शुद्ध स्वभाव से जुदे पर द्रव्य हैं। ध्यान के लिये एकान्त स्थान, मन, वचन, कायकी शुद्धि, चित्त की समाधानता, आसन जिससे शरीर

जमा हुआ रहे, नियमित शुद्ध भोजन पान, निद्रा, यम, नियम आदि साधनों की आवश्यकता है।

वास्तव में आत्म-ध्यान तत्त्वज्ञानी के लिये इतना दुर्लभ नहीं है तथापि साधारण मानवों के लिये इसका सिद्ध करना कठिन है परन्तु वे यदि व्यवहार धर्म के आश्रय से अभ्यास करे तो उनको उसकी सिद्धि धीरे धीरे हो सकती है। वास्तव में निश्चय रत्नत्रय, या आत्मनुभव या आत्मध्यान ही सुख शांत का व स्वाधीन होने का व शुद्ध होने का उपाय है।

जैसे पेट भरने का उपाय भोजन करना है। परन्तु जैसे भोजन का मिलना कठिन है। भोजन होने के लिये द्रव्य, सामग्री फिर उसका तय्यार करना आदि साधन चाहिये। वैसे ही आत्म-ध्यान के लिये बाहरी साधन चाहिये। इस ही साधन को व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार धर्म कहते हैं। यह व्यवहार धर्म निश्चय धर्म की प्राप्ति का निमित्त कारण है।

व्यवहार धर्म

व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यग्चारित्र को व्यवहार धर्म कहते हैं—

व्यवहार सम्यग्दर्शन जीव आदि सात तत्त्वों पर विश्वास करना है जिनका कथन पहले संक्षेप से कह दिया गया है तथा सच्चेदेव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु पर विश्वास लाना है जो सात तत्त्वों की श्रद्धा का कारण है।

अज्ञान व क्रोधादि विकारों से रहित ऐसा सर्वज्ञ वीत राग ही सच्चा देव है। जो सर्वज्ञ वीतराग शरीर सहित होकर उपदेश देते हैं उन्हें अरहन्त भगवान कहते हैं तथा जो शरीर रहित शुद्ध परमात्मा है वे सिद्ध भगवान हैं। अरहन्त भगवान का जो धर्मोपदेश होता है उसी को प्रकाश करने वाले निश्चय और व्यवहार नय से व स्याद्वाद के द्वारा वस्तुओं का स्वरूप झलकाने वाले प्रमाणीक वीतरागी ऋषियों के व तदनुसार अन्यों के रचे हुए जैन शास्त्र हैं जो परिग्रह व आरम्भ के त्यागी होकर निरन्तर ज्ञान ध्यान तप में लीन हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। इनमें जो दूसरे साधुओं को दीक्षा शिक्षा देते हैं वे गुरु आचार्य हैं, जो दूसरों को शास्त्र ज्ञान देते हैं वे गुरु उपाध्याय हैं व जो मात्र साधन करते हैं वे साधु हैं। जैनमत में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु को ही परम पदवी धर व पूज्यनीय मानते हैं—इन्हीं को नमस्कार हो ऐसा बताने वाला प्रसिद्ध णमोकार मंत्र इस तरह हैं—

णमो अरहंताणं (अरहंतो को नमस्कार हो)

णमो सिद्धाणं (सिद्धों को नमस्कार हो)

णमो आइरीयाणं (आचार्यों को नमस्कार हो)

णमो उवज्झायाणं (उपाध्याओं को नमस्कार हो)

णमो लोएसव्वसाहूणं (लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो)

इस मंत्र में ३५ अक्षर हैं।

सात तत्वों का संक्षेप से या विस्तार से शास्त्रों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सो व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। साधु और गृहस्थ के योग्य आचरण करना सो व्यवहार सम्यग्चरित्र है।

गृहस्थों का व्यवहार चारित्र

एक साधारण गृहस्थ को निश्चय धर्म अर्थात् आत्म-ध्यान के हेतु से नीचे लिखे छः कर्तव्य रोज पालने चाहिये—

(१) देवपूजा—अरहंत और सिद्ध की पूजा करना। ये पूजा अरहंत भगवान की उनके समक्ष भी हो सकती है। तथा उनके वीतराग स्वरूप को बताने वाली उनकी मूर्त्तियों से भी हो सकती है—धातु पाषाण की परम शांत पद्मासन या कायोत्सर्ग मूर्त्तियां वस्त्रा भूषण रहित मन में शांति व वैराग्य पैदा करने के निमित्त कारण हैं। इनके द्वारा स्वरूप विचारते हुए उनके गुणानुवाद करते हुए वमन में भक्ति पैदा करने को जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप व फल चढ़ाते हुए पूजा भावों में वैराग्य व शुभ भाव पैदा करती है जिससे आत्म-ध्यान का लाभ होता है, व सुख शांति प्राप्त होती है।

(२) गुरु भक्ति—साधुओं की सेवा में जाकर उनकी सेवा करनी व उनसे धर्मोपदेश गृहण करना गुरु सेवा भी आत्मध्यान की कारण है। व सुख शांति देनेवाली है।

(३) स्वाध्याय—जैन शास्त्रों को रोज पढ़ना, सुनना, या विचारना—धर्मचर्चा करनी अध्यात्मिक ग्रंथों को अधिक पढ़ना जैसे परमात्माप्रकाश, समयसार, ज्ञानार्णव, समाधिशतक, इष्टो-पदेश।

(४) तप—इसमें मुख्यता से रोज सवेरे और सांझ थोड़ी देर एकान्त में बैठ कर सामायिक या आत्मासम्बन्धी विचार करना

चाहिए—जैसे पहले कहा जा चुका है अपने शरीर के भीतर ही अपने आत्मा को निर्मल जल के समान पवित्र विचार कर उसमें डुबकी लगानी चाहिये।

इसके निरन्तर अभ्यास से आत्मध्यान जमता चला जायगा।

(५) संयम—मन व इन्द्रियों को वश में रख कर, अन्याय सेवन व अभक्ष्य भोजन से बचना चाहिये तथा दयापूर्वक जगत में व्यवहार करना चाहिये।

(६) दान—दूसरों के उपकार के लिये आहार, औषधि, विद्या व अभयदान यथासंभव रोज करना चाहिये। परोपकार से चित्त कोमल व उदार होता है। संयम और दान आत्मध्यान में सहायक हैं।

इन छः कर्मों को करना उचित है ऐसा विश्वास रखते हुए यदि किसी गृहस्थ से कोई कर्म कभी किसी लाचारी से न हो सके तो कोई दोष नहीं है।

किन्तु छहों कर्मों के करने से जो लाभ होता उसमें मात्र कमी रह गई है। यदि कोई ऐसी स्थिति में है कि सामायिक व स्वाध्याय आदि तो करता है परन्तु दर्शन व देव पूजा का अवसर नहीं निकाल सकता है तो उसे अधर्मी नहीं कहा जा सकता जब तक उसके मनमें श्रद्धा है व लाचारी वश वह नहीं कर सका है। अथवा किसी का मन किसी कर्म में अधिक लगता है और दूसरों को कम करता है व कभी नहीं करता है परन्तु करना लाभदायक समझता है तौ भी वह अधर्मी नहीं हो सकता; क्योंकि जैन मत में प्रयोजन आत्मध्यान करके सुख शांति पाने का है वह जिस तरह

मिले वह उपाय करना योग्य है। जैसे पेट भरना जिसका प्रयोजन है वह एक या दो, तीन, चार आदि प्रकार के भोजन से भरा जा सकता है। कभी एक ही भोजन से काम निकाल लेता है।

सनातन जैनमत गृहस्थों के लिये छहों बातों को धर्म का उपाय बताता है :—

इस पर विश्वास एक जैनी का जरूर होना चाहिये—जैनियों में जो कोई स्थानक वासी श्वे० हैं, वे मूर्त्तियों के स्थापन व उनके द्वारा भक्ति पूजन को निषेध करते हैं सो उचित नहीं हैं क्योंकि जैसे शास्त्र जड़ होने से उनसे हम ही ज्ञान ले सकते हैं वैसे मूर्त्तियां जड़ हैं परन्तु उनके दर्शन से हम उनसे प्रगट होने वाला वीतराग भाव गृहण कर सकते हैं—सनातन जैनमत में स्थापना निक्षेप से काम लेना बताया गया है। जहां कोई साक्षात् न हो और उसके आकार को देखना हो व समझना हो तो उसकी मूर्त्ति व उसका चित्र उपयोगी होता है।

श्री उमास्वमी महाराज ने तत्वार्थ सूत्रमें यह सूत्र कहा है :—

"नाम स्थापनाद्रव्य भावतस्तन्न्यासः ।। ५ । १

अर्थात् लोक का व्यवहार चलाने को नाम रखना; उसकी स्थापना किसी में करके समझाना, आगे व पीछे की दशा को वर्तमान में कहना, व वर्तमान की दशा को वर्तमान में कहना—यह नियम काम में लाना पड़ता है, मूर्त्ति स्थापन का रिवाज नया नहीं है जैसे जैनमत अनादि है वैसा इसका रिवाज भी अनादि है। ऐसे ही सामायिक करना या ध्यान करना भी जरूरी है। बहुत दिगम्बरी भाई सामायिक की तरफ चित्त नहीं लगाते उनको समझना चाहिये

कि बिना ध्यान का अभ्यास किये सुख शांति का लाभ भले प्रकार नहीं होगा और न आत्मा में स्वाधीन स्वात्मानुभव की शक्ति पैदा होगी। इसी तरह मूर्ति पूजक श्वेताम्बर भाई मूर्तियों से मदद तो लेते हैं परन्तु वैराग्यमय मूर्ति बना कर भी उसको शृंगारित कर देते हैं। अभूषण व मुकुट आदि पहना देते हैं सो उचित नहीं है क्योंकि उससे भगवान की शांत मुद्रा के दर्शन में दर्शक को अन्तराय पड़ता है।

जैसे हम किसी साधु को अलंकृत नहीं कर सकते हैं वैसे हमें जिन प्रतिमा को भी शृंगारित नहीं करना चाहिये—सनातन जैनमत ऐसा नहीं है।

एक मामूली गृहस्थ को नीचे लिखी आठ बातें भी छोड़ देनी चाहिये। जैसा श्री समन्त भद्राचार्य रत्नकरंड श्रावकाचार में बताते हैं—

मद्य मांस मधुत्यागैः सहाणु व्रत पंचकं।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥६६॥

अर्थात्—गृहस्थियों के लिये ये आठ मूल गुण तीर्थंकरों ने बताये हैं—

अर्थात् इनका पालना उनके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इनके पालने से गृहस्थ अन्याय से बचते हैं तथा जगत के प्राणी उनके द्वारा कष्ट नहीं पाते हैं—

(१) मदिरा या शराब नहीं पीना चाहिये।

तथा अन्य भी नशे यथाशक्ति न लेने का उद्यम करना चाहिये। क्योंकि मद्य जीव की चेतन शक्ति का घात करता है।

(२) मॉस कभी नहीं खाना चाहिये क्योंकि यह स्वयं अनगिनती कीड़ों का ढेर है। बहुत हिंसा का कारण है अप्राकृतिक है और अनावश्यक है।

प्रवीण डाक्टर सब इसके विरुद्ध हैं।

Dr. Josiah Old Field D. C. L. M.A., M. R. C. S., L. R.C.P., Senior Physician, Margaret Hospital Bombay डा० जोसिआ ओल्ड फील्ड कहते हैं—

......Products of the vegetable kingdom contain all that is necessary for the fullest sustenance of Human life, flesh is an unnatural food and leads to create functional disturbance.

अर्थात् शाकाहार में सब कुछ है जो मानव जीवन की पूर्ण स्थिति के लिये आवश्यक है। मॉस अस्वाभाविक भोजन है और शरीर में रोग पैदा करता है।

दयावान मानव को कभी भी मॉंश खाना उचित नहीं है। इसीके कारण अनेक उपयोगी कृषि के योग्य पशु भी कसाई खाने में बध किये जाते हैं।

(३) मधु या शहद नहीं खाना चाहिये क्योंकि यह मक्खियों का उगाल है व उनको बहुत कष्ट देकर लाया जाता है व उसके रस में अनगिनती कीड़े पैदा होते हैं—

ये तीन मकार कहलाते हैं। इनको कभी लेना न चाहिये।

औषधि में भी इनको लेना उचित नहीं है। डाक्टरी दवाओं में माँस व मदिरा का सम्बन्ध रहता है व वैद्य लोग औषधियों में मधु डालते हैं। यदि यकायक इन दोषों को न दूर कर सकें तो पीछे छोड़ें। वैसे माँस खाना, व शराब पीना तथा शहद को शौक से खाना तो जरूर छोड़ें।

पांच अणु व्रत नीचे प्रकार है:—

(१) अहिंसा अणुव्रत—संकल्प या इरादा करके जानवरों को न मारे। ऐसी संकल्पी हिंसा धर्म के नाम से पशु बलि करने में, मांसाहार के लिये शिकार खेलने में होती है। इसलिये इन निरर्थक हिंसाओ को त्यागे। मामूली गृहस्थी गृहारंभी, उद्यमी व विरोधी हिंसा छोड़ नहीं सकता है। तौ भी व्यर्थ न करे जो भोजन, पान, मकान बनाने, बाग लगाने, कूप-बावड़ी खोदने में होती है वह गृहारंभी हिंसा है। जो आजीविका के कर्म्म, असि (तलवार) मसि, (लेखनी) कृषि, वाणिज्य, शिल्प व विद्या (हुनर) के कार्य करने में होती है वह उद्यमो हिंसा है. जो देश, नगर, घर, स्त्री, पुत्र, माल असबाब पर हमला करने वालों को रोकने में व उनके साथ युद्ध करने में होती है वह विरोधी हिंसा है। जैन गृहस्थ राज्य शासन, व्यापार आदि सब कुछ कर सकते हैं। वे देश-परदेश रेल, रेल, जहाज आदि पर जा सकते हैं। उनको अपने धर्म की श्रद्धा दृढ़ रखनी व माँस, शराब से परहेज करना जरूरी होगा। मामूली जैन गृहस्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार भिन्न भिन्न देशों में जाकर नीति व धर्म को नहीं छोड़ता हुआ अपना काम कर सकता है। जो विचारवान व्रती गृहस्थ हैं जिनका वर्णन आगे किया

जायगा वे इस बात की भी सम्हाल रखते हैं कि जो लोग मांसाहारी व मदिरा पीने वाले हैं उनके हाथ का स्पर्शित भोजन पान न लिया जावे; क्योंकि इसमें माँस मद्य का दोष आता है परन्तु एक मामूली गृहस्थ यदि किसी क्षेत्र में इस नियम को न पाल सके तो उसके मूल गुण में दोष नहीं हो सकता है, उसको कम से कम माँस, अंडा व शराब कभी नहीं पीना चाहिये इसके सिवाय जितनी शुद्धता खान-पान की रख सके उतना ही अच्छा है। परन्तु यह कहना कि जिसने माँसाहारी का स्पर्शित भोजन पान कर लिया वह भ्रष्ट हो गया, एक मामूली गृहस्थ के लिये अधिक है। जिस देश में ऐसा संभव हो वहाँ अवश्य बचाना उचित है परन्तु जहां असंभव हो और न बच सके तो भी वह एक मामूली जैन गृहस्थ के दरजे से नहीं गिर सकता है।

(२) सत्य अणुव्रत—लोक में निंद्य व राज्यदंड योग्य, असत्य वचन का त्याग करके हितकारी, मीठे व मर्यादा रूप वचन बोले। अपने वचनों से किसी को कष्ट न दे, न ठगे।

(३) अचौर्य्य अणुव्रत—गिरा हुआ, पड़ा हुआ, भूला हुआ किसी का माल न उठावे। जिन वस्तुओं के लेने की इजाजत है उनके सिवाय सर्व बिना दी हुई वस्तुओं के लेने का त्याग करे। अन्याय से पैसा न कमावे, चोरी के दोषों से बचे।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत—अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रक्खे, पर स्त्री व वेश्या सेवन से बचे।

(५) परिग्रह प्रमाण—अपनी इच्छा जितनी हो उतनी जायदाद

की एक मर्यादा बाँधले कि इतनी सम्पत्ति होने पर मैं सन्तोष रक्खूँगा और तब परोपकार में संतोष पूर्वक जीवन विताऊँगा।

जो गृहस्थ आत्मा के सच्चे सुख को भोगते हुये सांसारिक जीवन विता कर हर एक प्रकार की उचित राज्यनैतिक, व्यापारिक, सामाजिक आदि लौकिक उन्नति करना चाहते हैं उनके लिये ऊपर लिखा हुआ मामूली गृहस्थ का व्यवहार धर्म है जो बड़ी सुगमता से पाला जा सकता है।

जिनको आत्म ध्यान की रुचि हो जावेगी वे ही सच्चे जैनी हैं। ऐसे ही जैनी जैसा अवकाश होता है उसके अनुसार देवपूजा, गुरु भक्ति, सामायिक व शास्त्र पठन करते हैं और नीति से चलने के लिये अहिंसादि पांच अणुव्रत का आचरण करते हैं। ऐसे गृहस्थ राजा या प्रजा दोनों अन्याय से बिलकुल बचेंगे; दूसरों को जीवित रखते हुए, दूसरों को दुःखी न करते हुए अपना जीवन वितायेंगे। अहिंसा और सत्य उनका मूल मन्त्र होगा। वे जगत मात्र के जीवों का हित चाहेंगे व यथाशक्ति भलाई करेंगे।

एक जैनी के लिये आज्ञा है कि वह नीचे लिखी चार भावनाएं करता रहे—

"मैत्री प्रमोद कारुण्यं माध्यस्थानि च।
सत्त्व गुणाधिक क्लिश्यमाना विनयेषु॥११।७ता० सू०

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्र के साथ मित्रता रखना अर्थात् सब का भला चाहना, गुणों में जो अधिक हों उनको देखकर प्रमोद या हर्ष भाव करना, दुःखी जीवों पर दया भाव रखना, तथा जो अपने

से विरुद्ध सम्मति के हों व अविनयी हों उन पर माध्यस्थ भाव रखना अर्थात् उनसे न प्रेम रखना न उनसे द्वेष करना। जो अपने चारित्र में उन्नति करते हुए त्याग मार्ग की ओर झुकना चाहते हैं उन गृहस्थों के लिये ग्यारह प्रतिमाएं या श्रेणियां बताई गई हैं— उन श्रेणियों के नाम ये हैं—(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) प्रोष धोपवास (५) सचित्त त्याग (६) रात्रि भुक्ति त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

इनका संक्षेप स्वरूप स्वामी समंत भद्राचार्य ने रत्नकरंड श्रावकाचार में इस तरह बताया है—

पहली श्रेणी—दर्शन प्रतिमा

सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोग निर्विराणः।
पंच गुरुचरण शरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥१३७

भावार्थ—इस दरजे वाले गृहस्थ की श्रद्धा जैनमत के तत्वों पर निश्चय और व्यवहार धर्म पर पक्की व शुद्ध होनी चाहिये, ऐसे गृहस्थ का मन संसार को दुःख रूप, शरीर को अपवित्र व नाशवंत तथा भोगों को नाशवन्त व अतृप्तिकारी समझ कर इनसे वैराग्य रूप हो वह अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परम गुरु के चरणों का सेवक हो तथा तत्त्व के मार्ग को गृहण करने वाला हो अर्थात् मद्य, मांस आदि तीन मकार का त्यागी हो और पांच अणुव्रत का पालने वाला हो ऐसे आठ मूल गुण को पालता हो—

सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने के लिये जाति (मामा का पक्ष) कुल (पिता का पक्ष) धन, विद्या, अधिकार, रूप, बल, तप—इन आठ शक्तियों के होने पर कभी घमंड न करे। इन बलों से परोपकार कर तथा ज्ञान पूर्वक जगत में व्यवहार करके नीचे लिखे आठ अंग पाले—

(१) सच्चे धर्म की ऐसी अटल श्रद्धा रक्खे कि कभी कष्ट पड़ने पर भी उसे न छोड़े, तथा सत्य के कहने व पालने में कभी भय न करे। कर्मों के उदय के सामने निर्भय रहे एक वीर योद्धा के समान संसार में चले। प्राण जाय तौ भी सत्य मार्ग को न त्यागे।

(२) क्षण भंगुर इन्द्रिय सुख की इच्छा न करे—धर्म को सच्ची सुख शांति पाने व स्वाधीनता के लिये सेवन करे।

(३) रोगी, दु:खी प्राणी व अचेतन घृणित पदार्थों को देखकर मन में ग्लानि न लावे। उनके स्वरूप को विचार कर समभाव रक्खे भील, म्लेच्छ, चंडाल, मिहतर आदि पर भी दया रख के उनके जीवन को सुधारने के लिये सत्य धर्म का उपदेश देकर धर्म की श्रद्धा करावे व मद्य मांसादि छुड़ावे व पांच अणुव्रत गृहण करावे। पतितों का उद्धार करना बड़ा भारी परोपकार है।

(४) मूढ़ता से देखा-देखी विना समझे मिथ्या धर्म क्रिया को नहीं करने लग जावे।

(५) अपने आत्मा से दोषों को हटावे व उसके गुणों को बढ़ावे, धर्मात्मा आदि की निन्दा न करके उसके दोषों को अन्य रीति से निकालने की चेष्टा करे।

(६) अपने आत्मा को सत्य मार्ग से डिगते हुए थांभे व, दूसरों को भी दृढ़ करने का उद्योग करता रहे।

(७) सर्व धर्म के मानने वालों के साथ गौ वच्छ के समान प्रेम रक्खे उनके संकटों को अपना संकट समझ कर उनको दूर करे।

(८) जैन धर्म के तत्त्वों को जगत में विस्तार करके धर्म की प्रभावना या उन्नति करे; अजैनों को जैनी बनाये; जो जीव सात तत्वों को नहीं जानते व सच्चे आत्म स्वरूप व आत्मानन्द को नहीं पहचानते हैं वे मानव जन्म पा करके उससे कुछ लाभ नहीं ले रहे हैं ऐसा दिल में दया भाव लाकर जगत भर के मानवों को पुस्तकों के और उपदेशों के द्वारा तथा अपने आचरण के द्वारा धर्म का स्वरूप बताकर उनके दिलों में सच्चा तत्त्व जमा कर उनको सच्चे जैन मार्ग पर आरूढ़ करना व उनसे आठ मूल गृहण कराना बड़ा भारी धर्म का अंग है। हर एक जैनी का कर्तव्य है कि वह एक वर्ष में कम से कम १२ अजैनों को अवश्य जैनी बनावे उनकी आत्मा को पवित्र करे। हमारे जैनाचार्यों ने चंडाल व भील आदि को धर्मोपदेश देकर जैनी बनाकर उनको दुर्गति से बचा कर स्वर्ग में भिजवा दिया था। सब आत्माओं को समान समझ कर सब के साथ उपकार करना यह एक जैनी का मुख्य कर्तव्य है।

(२) दूसरी श्रेणी—व्रत प्रतिमा

निरति क्रमण मणुव्रत पंचकमपि-
शीलसप्तकंचापि।

धारयते निःशल्योयोऽसौ-
व्रतिनांमतोव्रतिकः ॥ १३८ ॥

भावार्थ—जो मायाचार, मिथ्या भाव व निदान (भोगांकाक्षा) इन तीन शल्य या कांटों से रहित हो, अतिचार (दोष) रहित अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को पालने वाला हो, व सात शील को धारण करता हो, यह आत्मा व्रतियों के भीतर व्रत प्रतिमा वाला कहा गया है।

पाँच अहिंसादि अणुव्रतों के अतिचार ये हैं:—

जैसे क्रोधादि वश बाँधना, मारना, छेदना, अति बोझा लादना, अन्नपान रोकना, मिथ्या उपदेश देना, गुप्त स्त्री पुरुषों की बात कहना, झूँठा लेख लिखना, अमानत को झूँठ कह कर ले लेना, गुप्त सम्मति को प्रगट कर देना, चोरी का उपाय बताना, ऐसा माल लेना, राज्य विरुद्ध होने पर मर्यादा तोड़ कर चलना, कमती बढ़ती तोलना नापना, सच्चे में झूंठा मिलाकर सच्चा कह कर बेंचना, अपने कुटुम्ब के सिवाय दूसरों के लड़कों व लड़कियों की सगाई मिलाना, विवाहिता या अविवाहिता व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखना, काम के अंग छोड़ कर अन्य अंगों से काम सेवन करना, काम भावकी तीव्रता रखनी, मकान, भूमि गोवंश, अनाज, चाँदी, सोना, दासीदास, कपड़े, बर्तन का जो जन्म पर्यन्त प्रमाण किया हो उसमें इन पाँच जोड़ में से हर एक में एक को बढ़ा कर दूसरे को घटा लेना।

इन दोषों को न लगाकर शुद्ध पाँच अणुव्रत पालने चाहिये।

सातशील यह हैं—तीन गुण व्रत—(१) जन्म पर्यन्त के लिये दस दिशाओं में संसारिक काम के सम्बन्ध की मर्यादा कर लेना दिग्व्रत है। (२) इस मर्यादा में से १ दिन आदि के लिये घटा कर रखना देशव्रत है। (३) अनर्थ के पाप न करना जैसे अन्य का बुरा विचारना, पाप का उपदेश देना, हिंसाकारी वस्तु माँगे देना, भावों के बिगाड़ने वाली पुस्तकों का पढ़ना, प्रमाद से वृथा काम करना, जैसे वृक्ष तोड़ना आदि।

चार शिक्षा व्रत—(१) नित्य सबेरे, दोपहर तथा साँझ को सामायिक या ध्यान का अभ्यास करना—कम से कम एक दफे तो जरूर करना सामायिक है। (२) अष्टमी तथा चौदस को धर्म ध्यान में समय बिताने के लिये उपवास करना या एक दफे भोजन करना प्रोषधोपवास है। (३) भोग और उपभोग की सामग्री जो प्रति दिन काम में लेनी हो उनको रखके शेष का त्याग करना भोगोपभोग परिमाण है। (४) नित्य किसी मुनि या अन्य धर्मात्मा को दान देकर भोजन करना अतिथि संविभाग है। ऐसे १२ व्रत प्रतिमाधारी है।

(३) तीसरी श्रेणी—सामायिक प्रतिमा।

चतुरावर्त्त त्रितयश्च,
तुष्प्रणामः स्थितोयथाजातः।
सामायिकोद्वि निषिद्य स्त्रियोग शुद्ध,
स्त्रिसंध्यमभिवन्दी ॥ १३९ ॥

भावार्थ—जो चारों दिशाओं में तीन वर्ष आवर्त करे, चार चार प्रणाम करे, काय से ममत्व त्याग खड़ा रहे, खड्गासन या पद्मासन दो आसनों में से कोई आसन लगावे, मन, वचन काय को शुद्ध रक्खे तीनों काल वन्दना करके सामायिक करे वह सामायिक प्रतिमा धारी है, दोनों हाथ जोड़े हुए अपने शरीर के बाएं से दाहने की ओर घुमाने को आवर्त कहते हैं।

सामायिक की विधि—संक्षेप से यह है कि किसी एकांत स्थान में जाकर एक आसन चटाई, आदि पर पहले पूर्व या उत्तर को मुख करके खड़ा हो, नौ णमोकार मंत्र पढ़कर दंडवत करे व प्रतिज्ञा करे कि जब तक ध्यान करता हूँ व यह आसन नहीं छोड़ता हूँ तब तक जो कुछ मेरे पास इस समय शरीर में है इसके सिवाय सर्व पदार्थों का त्याग है व अपने चारों तरफ थोड़ी जमीन और रख कर शेष जमीन का त्याग है फिर उसी दिशा को खड़ा हो नौ या तीन दफे वही मंत्र पढ़े, और तीन आवर्त करे फिर मस्तक झुका कर दोनों, जोड़े हुए हाथ लगावे ऐसा प्रणाम करें, फिर खड़े ही खड़े अपनी दाहनी तरफ पलट कर उसी तरह नौ या तीन दफे मंत्र पढ़कर प्रणाम करे। ऐसे ही पीछे व बांई तरफ करके बैठ जावे, फिर सामायिक पाठ पढ़े (जो भाषा का पाठ पुस्तक के अन्त में है) जप करे आत्मा का विचार करे। अन्त में खड़ा हो नौ दफे मंत्र पढ़ कर दंडवत करे, हर दफे ४८ मिनिट सामायिक करे। कारण वश कभी कुछ कम भी कर सकता है।

---

(४) चौथी श्रेणी—प्रोषधोपवास प्रतिमा।

पर्व दिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे
स्वशक्ति मनिगुह्य।
प्रोषध नियम विधायी प्रणधिपरः
प्रोषधानशनः ॥ १४० ॥

भावार्थ—जो महीने महीने चारों ही पर्वों में अर्थात् दो अष्टमी दो चौदस को अपनी शक्ति को न छिपा कर शुभ ध्यान में तत्पर होता हुआ प्रोषध नियम सहित उपवास करता है वह प्रोषध प्रतिमाधारी है।

प्रोषध के नियम मे सर्व सवारी चढ़ना आदि आरम्भ का त्याग होता है। धर्म ध्यान में समय बिताना होता है। उत्कृष्ट १६ पहर या ४८ घंटे मध्यम ३६ घंटे व जघन्य २४ घंटे ऐसा रहे तथापि भोजनपान ३६ घंटे से कम न त्यागे।

(५) पांचमी श्रेणी—सचित्त त्याग प्रतिमा।

मूल फल शाक शाखा
करीर कन्द प्रसून वीजानि।
नामानि वोऽस्ति सोऽयंसचित्त
विरतो दयामूर्त्तिः ॥ १४१ ॥

भावार्थ—जो कच्चे अर्थात् अप्राशुक या जीव सहित मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (कोंपल), कन्द, फूल और बीज नहीं खाता है वह दया की मूर्त्ति ही सचित्त त्याग प्रतिमाधारी है। यह आवश्यकता होने पर मात्र शरीर की रक्षार्थ इन वस्तुओं को पकी हुई व छिन्न भिन्न की हुई दशा में खा सकता है। पके फलों का गूदा ले सकता है। व पानी कच्चा न पीकर उष्ण या प्राशुक पीवेगा जो लौंग कुटी हुई डालने से अपना रंग बदल देता है।

(६) छठी श्रेणी—रात्रिभुक्ति त्याग।

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं,
नाश्नाति योविभावर्याम्।
सचरात्रि भुक्तिः विरतः,
सत्वेष्वनु कम्यमान मनाः॥१४२॥

भावार्थ—जो जीवों पर दया भाव रखने वाला रात्रि में अन्न, पानी, मादेकादि खाद्य, व चाटने योग्य चटनी आदि पदार्थों को नहीं खाता है वह रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमाधारी है।

रात्रि को न खाने का अभ्यास तो पहिली प्रतिमाधारी भी शुरू कर देता है यथा सम्भव जल भी नहीं पीता है परन्तु देशकाल व्यवस्था के होने से यदि वह नहीं बच सके, तो जितना बच सके अपने को रात्रि के खान-पान से बचावे इस छठे दरजे में आकर तो उसे नियम से न स्वयं खाना-पीना होगा न वह दूसरों को रात्रि के समय खिलाए-पिलाएगा।

(७) सातवीं श्रेणी—ब्रह्मचर्य प्रतिमा

मल बीजंमल योनिं,
गलन्मलंपूति गंधि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्ग मनङ्गाद्विरमति
यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

भावार्थ—जो मल का बीज, मल को उत्पन्न करने वाली, मल प्रवाही, दुर्गन्ध युक्त, लज्जाजनक योनि को देखता हुआ काम सेवन से विरक्त होता है वह ब्रह्मचर्य नाम प्रतिमा का धारी है। यह श्रावक गृहस्थ अपनी स्त्री का भी त्याग करके उदासीन भेष में घर में भी एकान्त में रह सकता है व देशाटन भी कर सकता है।

(८) आठमी श्रेणी—आरंभ त्याग प्रतिमा

सेवा कृषिवाणिज्य प्रमुखा,
दारम्भतो ऽव्युपारमति।
प्राणाति पातहेतोर्यो-
ऽसावारम्भ विनिवृतः ॥१४४॥

भावार्थ—जो जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापारादि के आरंभ से विरक्त हो जाता है वह आरंभ त्याग प्रतिमा का धारी है। सातवें दरजे तक धन कमाने के लिये अपनी अपनी दशा के

योग्य उद्यम करता था। इस दरजे में आकर नया पैसा कमाना त्याग देता है जो कुछ जायदाद होती है उसी में सन्तोष करता है।

(९) नवमी श्रेणी—परिग्रह त्याग प्रतिमा।

वाह्येषु दशसुवस्तुषु ममत्त्व,
मृत्स्तज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोष परः परिचित्त,
परिग्रहा द्विरतः ॥१४५॥

भावार्थ—जो बाहरी क्षेत्र आदि दस प्रकार की परिग्रहों से ममता हटा कर अपने स्वरूप में स्थिर व सन्तोषी हो जाता है वह संग्रहीत परिग्रह से विरक्त प्रतिमाधारी है। यह श्रावक अपनी जायदाद को जिसे देना हो दे देता है या दान-धर्म में लगा देता है। अपने लिये कुछ कपड़े व बर्तन रख लेता है। धर्मशाला व एकांत में रहता है। भक्ति से बुलाए जाने पर भोजन जो मिले कर लेता है और रात्रि दिन आत्म-ध्यान के अभ्यास में लगा रहता है व उसके सहकारी शास्त्र पठन आदि कार्यों को करता है।

(१०) दसमी श्रेणी—अनुमति त्याग प्रतिमा।

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे,
वैहिकेसु कर्मसुवा।
नास्ति खलुयस्य समधी रनुमति,
विरतः समन्तव्यः ॥१४६॥

भावार्थ—जो आरंभ करने में, परिग्रह रखने में, वह इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अपनी सम्मति नहीं देता है उस समान बुद्धिधारी श्रावक के अनुमति त्याग प्रतिमा जाननी चाहिये। यह श्रावक भोजन के समय बुलाये जाने पर जाता है। पहले से बुलावा नहीं मानता है।

(११) ग्यारवी श्रेणी—उद्दिष्ठ त्याग प्रतिमा या उत्कृष्ट श्रावक प्रतिमा।

गृहतो मुनिवन मित्त्वा,

गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य।

भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्ट-

श्चेल खंडधरः ॥१४७॥

भावार्थ—जो घर से मुनि के पास बन में जाकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तप करता हुआ भिक्षा भाजन करता है वह खंड वस्त्रधारी उत्कृष्ठ श्रावक है—इसके दो भेद हैं-(१) क्षुल्लक—जो एक लंगोट व एक ऐसी चादर जो पूर्ण शरीर को न ढक सके रखता है। मोर के पंख की पीछी जंतु दया पालने को व एक कमंडल उष्ण जल को व एक पात्र आहार लेने को (यदि चाहे तो) रखता है कोई क्षुल्लक एक घर भोजी कोई अनेक घर-भोजी होता है—यह श्रावकों के घरों के आंगन तक जाता है और धर्म लाभ कहता है। यदि भक्ति से किसी ने कहा कि अत्र आहार पानी शुद्ध तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ। तब वहां बैठकर अपने पात्र में या गृहस्थी के पात्र में आ मिले। जो

अनेक करभोजी हो व अपने पात्र में श्रावक से भोजन लेले फिर और घरों में जाकर भोजन ले। जहां उदर-पूर्ति तक मिल जावे वहीं प्राशुक पानी ले भोजन करले अपना पात्र स्वयं धो लेवे—यह कतरनी या छुरी से बाल लोच कर सकता है।

(२) ऐलक—जो एक लंगोटी मात्र ही रखता है। एक ही घर बैठकर हाथ में जो रक्खा जावे उसे संतोष से जीम लेता है। यह केशों को अपने हाथ से लोच करता है। काठ का कमंडल रखता है।

इन ग्यारह श्रेणियों में आगे की श्रेणी वाला पिछली श्रेणी के चारित्र को छोड़ता नहीं है किन्तु बढ़ाता जाता है। ये दरजे इतने बढ़िया पद्धति से कहे गए हैं कि इनके द्वारा धीरे धीरे एक श्रावक गृहस्थ मुनि या साधु होने की योग्यता बढ़ाता जाता है उधर आत्म ध्यान करने का बल बढ़ता जाता है। हर एक श्रेणी वाले श्रावक को व कम से कम दूसरी श्रेणी से शुद्ध भोजन करना चाहिये जिसमें मांस मद्य का कोई दोष न लगे। चर्म में रक्खा हुआ घी तेल पानी नहीं लेना चाहिये। मर्यादा का शुद्ध भोजन पान व्यवहार करना चाहिये। इस भारतवर्ष की ऋतु की अपेक्षा भोजन की मर्यादा इस तरह जैनमत के आचरण में वर्त्ती जा रही है।

(१) कच्ची रसोई दाल भात आदि की बनने के समय से ६ घंटे तक।

(२) पक्की रसोई पूरी मुलायम आदि दिन भर रात बासी नहीं।

(३) मिठाई, सुहाल आदि २४ घंटे तक।

(४) केवल अन्न और घी से बनी मिठाई पिसे हुए आटे की मर्यादा के समान अर्थात् ७ दिन जाड़े में, ५ दिन गर्मी में ३ दिन वर्षात में।

(५) बूरा साफ किया हुआ व मेवा घी बूरे के साथ जाड़े में १ मास गर्मी में १५ दिन व वर्षात में ७ दिन ।

(६) दूध दोहने के पीछे तुर्त छान कर औंटा ले वह २४ घंटे तक तुर्त छानकर ४८ मिनिट के भीतर पी सकता है ।

(७) दही जमा हुआ २४ घंटे तक, आचार या मुरब्बा २४ घंटे तक ।

(८) तेल व घी जहां तक स्वाद न बिगड़े ।

(८) पानी दोहरे गाढ़े छन्ने से छानकर ४८ मिनिट तक । यदि लौंग कुटी डाल कर रंग बदला जावे तो ६ घंटे तक, गर्म किया हुआ १२ घंटे तक उबाला हुआ २४ घंटे तक । मात्र छाना हुआ फिर छान कर काम में आ सकता है ।

शुद्ध भोजन पान रक्त शुद्ध बनाता है जिससे बुद्धि की निर्मलता में सहायता मिलती है व रोग नहीं सताते हैं । सदा मनुष्य को ताजा भोजन खाना चाहिये बाजार की दुकानों का व होटलों का भोजन दूध चाय आदि लेना योग्य नहीं है । बार बार खाना भी हानि-कारक है । खूब भूख लगने पर ही खाना चाहिये । दिन भर में एक दफे अथवा अधिक से अधिक दो दफे भोजन करना बस है । जैसे पहले १०—११ बजे फिर ४—५ बजे—एक से दूसरे भोजन में ६ घंटे का अंतर जरूर रहना चाहिये—रात्रि को मुंह व पेट को पाचन के लिये विश्रान्ति देना उचित है ।

साधुओं का व्यवहार धर्म चारित्र

जिनके भाव मात्र आत्म ध्यान और वैराग्य के लिये बहुत चढ़ गये हों उनको साधुओं का चारित्र पालना चाहिये । सनातन जैन

मत का मार्ग यही है कि जब श्रावक के चारित्र को ग्यारह श्रेणी तक साधन करले व ऐलक अवस्था में नग्न शरीर में शीत, उष्ण, दंशमसक आदि की बाधा को शांत मन से सहन कर सके तब उसको लंगोटी भी त्याग कर जन्म के बालक के समान सर्व कषाय रहित व काम विकार रहित हो जाना चाहिये। मुनियों का चारित्र तेरह प्रकार का है—जैसा श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने द्रव्य संग्रह में कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे
पवित्ती य जाण चारित्तं॥
वद समिदि गुत्तिरूवं
ववहारणयादु जिण भणीयं॥४५॥

भावार्थ—अशुभ से छूट कर शुभ मार्ग में चलना चारित्र है सो व्यवहारनय से पांच महाव्रत, पांच समिति व तीन गुप्ति रूप कहा गया है—

५ महाव्रत

१—अहिंसा—स्थावर (एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि) त्रस (द्वेन्द्रियादि) सर्व प्राणी मात्र की मन वचन काय से रक्षा करनी। राग द्वेष से बच कर भाव अहिंसा पालनी—साधुजन कोई आरंभ इसीलिये नहीं करते हैं।

२—सत्य—मन वचन काय से धर्मानुकूल सत्य हितकारी वचन कहना।

३-अचौर्य्य—बिना दी हुई जल मिट्टी आदि किसी वस्तु को न लेना।

४-ब्रह्मचर्य्य—मन वचन काय से शील व्रत पालना।

५-परिग्रह त्याग—सर्व धन धान्य भूमि, कपड़ा आदि का त्याग करना। भीतर ममत्व न रखना।

५ समिति

१-ईर्या समिति—अहिंसा पालनार्थ दिन में जंतु रहित दूसरों से रौंदी हुई भूमि में ४ हाथ आगे देखकर सावधानी से चलना। सवारी पर नहीं चढ़ना।

२-भाषा समिति—हित मित प्रिय व सभ्य वचन बोलना।

३-एषणा समिति—शुद्ध भोजन भिक्षावृत्ति से जो गृहस्थ श्रावक ने अपने लिये तय्यार किया हो उसी में से भक्तिपूर्वक दिया जाने पर अपने हाथ में ही दिन में एक दफे ही खड़े होकर समता भाव से संयम की रक्षार्थ लेना।

४-आदान निक्षेपण समिति—पुस्तकादि व अपने शरीर को देखकर रखना व उठाना।

५-उत्सर्ग या प्रतिष्ठापना समिति—मल मूत्र जंतु रहित स्थान में करना।

३-काय गुप्ति

१—मनो गुप्ति—मन के संकल्प विकल्पों को जीतना।

२—वचन गुप्ति—वचन को रोक कर अधिक मौन रहना।

३—काय गुप्ति—शरीर को निश्चल एक आसन से नियमित

संयम के लिये रखना व एक आसन से ही सोना बिना देखे करवट न बदलना।

साधु जन नगर बाहर एकांत स्थान पर नगर में ५ दिन व ग्राम में १ दिन से अधिक नहीं बसते हैं। वर्ष के मास आसाढ़ शुदी १५ से कार्तिक शुदी १५ तक एक स्थल पर ही बिताते हैं।

साधुओं का अधिक समय ध्यान में जाता है। समय बचने पर वे धर्मोपदेश देते हैं व शास्त्रादि रचते हैं।

जैनमत का सनातन मार्ग (निर्ग्रंथ) साधुओं ही का था। सर्व ही तीर्थंकर श्री ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर स्वामी ने नग्न ही तपस्या की थी—प्राचीन मूर्त्तियें नग्न ही मिलती हैं—बौद्धों की प्राचीन पुस्तकों में नग्न साधुओं का ही वर्णन है—यूनानी इतिहासकारों ने जो महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय में भारत में आए थे नग्न जैन साधुओं का ही वर्णन किया है पहले दिगम्बर श्वेताम्बर भेद जैनमत में नहीं थे—जब महाराज चन्द्रगुप्त के समय में सन् ई० से ३२० वर्ष पहले अनुमान मध्य प्रदेश में १२ वर्ष का भयानक दुष्काल पड़ा था तब श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली ने २४००० मुनि समूह को उपदेश दिया था कि दक्षिण में जैन गृहस्थ बहुत हैं वहाँ धर्म सध सकेगा यहाँ न ठहरना चाहिए तब १२००० साधुओं ने तो आज्ञा मान ली—परन्तु शेष ने न मानी वे यहाँ ही ठहर गए दुष्काल के समय चारित्र ढीला हो गया। वे आधा कपड़ा कंधे पर डालने लग गए तब से अर्द्ध कालक मत चला (भद्रबाहु चरित्र) फिर कई सौ वर्षों बाद उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण कर लिये तब से श्वेताम्बर भेद

हुआ—उस समय से जो प्राचीन नग्न साधु थे वे अपने को दिगम्बर कहने लगे अर्थात् जिनका अम्बर या कपड़ा दिशाही है।

वास्तव में यदि उस समय विचार किया जाता तो दो भेद करने की जरूरत नहीं पड़ती। क्योंकि जब श्रावक की ११ प्रतिमाएं कही गई हैं तब ग्यारवीं श्रेणी में जो क्षुल्लक बताए गये हैं वे खंड वस्त्र सहित होते हैं। वे क्षुल्लक पद में रह कर धर्म साध सकते थे। साधु धर्म का पुराना निर्गंथ मार्ग जैसा का तैसा रहने देना उचित था—श्वेताम्बरों के शास्त्रों में भी साधुओं के दो भेद बताए हैं (१) जिन-कल्पी (२) स्थविर कल्पी इनमें जिन कल्पी को वस्त्र रहति नग्न व दूसरे को वस्त्र सहित होना लिखा है—तथा जिन कल्पी को उच्च लिखा है—ऐसी दशा में यदि दिगम्बर श्वेताम्बर भेद मिटाना हो तथा एक सनातन जैन मत हा रखना हो तो पक्षपात रहित विद्वान् भाई सनातन जैनमत का ही मार्ग चला सकते हैं जितने श्वेताम्बर साधु हैं उनको क्षुल्लक पद में रख सकते हैं—क्षुल्लक का आचरण वहुत अंश में मिल जाता है। लकड़ी रखने की जरूरत उत्तम क्षमा गुण पालक त्यागियों के लिये नहीं है। न किसी एक घर में भोजन लाने की जरूरत है—कई घर से ले एक घर में जीम लेने से काम चल सकता है। ऐसे त्यागियों के लिये एक दफे ही भोजनपान बस है—दो तीन बार खाना गृहस्थियों का ही काम है। परस्पर भेद रहना उचित नहीं है। यदि विद्वज्जन सनातन जैन मत पर दृष्टि डालेंगे तो ये भेद मिट सकते हैं। हम सब को श्री तीर्थकरों का बताया हुआ निश्चय धर्म जो आत्मध्यान है उसको साधन करना चाहिये। उसके लिये जो व्यवहार चारित्र

ग्यारह प्रतिमा रूप वा फिर मुनिका चारित्र जो बताया गया है वह क्रम से उन्नति करते हुए बहुत ही सुन्दर व बुद्धि को माननीय झलकता है—प्रतिमाओं के धारी श्रावकों का प्रचार बढ़ना चाहिये—एकदम किसी को साधु होना उचित नहीं है—सुगम मार्ग यही है कि ग्यारह श्रेणियों के द्वारा धीरे धीरे उन्नति करके साधुहो—यदि कोई विशेष शक्ति शाली हो तो मना नहीं है परन्तु सीढ़ी से चलने पर गिरने का खटका नहीं है। सनातन जैन का मार्ग कंटक रहित सुखप्रद है—

मुक्ति व उसका मार्ग

जैसा मोक्ष तत्त्व में कहा जा चुका है—जीव के शुद्ध होने का नाम मुक्ति है—मुक्ति की दशा में जीव अपने शुद्धस्वभाव में हो जाता है—सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो कर वीतरागी रहता हुआ अपने आत्मा में तिष्टा हुआ आत्मानन्द के अमृत रस का निरन्तर स्वाद लिया करता है—पूर्ण स्वाधीनता में पहुँच जाता है—इस मुक्ति का उपाय निश्चय धर्म है जो रत्नत्रय स्वरूप आत्मा का ध्यान है—आत्म ज्ञान में थिरता आत्म ध्यान है। इस ध्यान में जो वीतराग या शांत भाव होता है वह कर्म बंध को काट देता है व नए कर्मों के बंध को रोकता है—आत्म ध्यान से ही जीव मुक्ति पाता है। आत्म ध्यान को उत्तमता बिना साधु पद के नहीं हो सकती है—इस लिये साधु पद धारे बिना कोई मुक्ति का लाभ नहीं कर सका है, गृहस्थ आत्मध्यान के अभ्यास से साधु पद की योग्यता पैदा कर सका है। यह जैन सिद्धान्त है जैसा श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टो पदेश में कहा है—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अतएव महात्मानस्तान्नि मित्तंकृतोद्यमाः ॥४५॥
अविद्वान् पुद्गल द्रव्यंयोऽभिनंदति तस्य तत् ।
नजातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥४६॥
आत्मा नुष्ठान निष्ठस्य व्यवहार वहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः काश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥
आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्म धनमनारतं ।
नचासौ खिद्यते योगी वहि दुःखेष्व चेतनः ॥४८॥
अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौतत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु स्यैव विस्तर ॥५०॥

भावार्थ—आत्मा के सिवाय पर पदार्थ है सो अपने से भिन्न है उसमें लीन होने से दुःख है। आत्मा स्वयं शुद्ध आत्मा है—इसमें लीन न होने से सुख है। इसीलिये महात्मा जन इस आत्मा के ध्यान का उद्यम करते हैं। जिस से सुख हो ॥४५॥ अज्ञानी जीव शरीरादि पुद्गल द्रव्यों को प्यार करता है इसलिये

यह पुद्गल द्रव्य देव, मनुष्य, पशु या नरक इन चारों गतियों में जोव कर संग नहीं छोड़ता है ॥४६॥ जो शरीर आदि बाहरी पदार्थों का मोह त्याग कर शुद्ध आत्मा में लीन होते हैं उन योगियों को योगाभ्यास के द्वारा कोई अपूर्व परमानन्द प्राप्त होता है ॥४७॥ यही आनन्द निरंतर बहुत अधिक कर्म रूपी ईंधन को जला देता है। इस आनन्द में मग्नयोगी बाहिरी दुःखों के पड़ने पर भी उन पर ध्यान न देता हुआ खेदित नहीं होता है ॥४८॥ अज्ञान से दूर महानज्ञान मई ज्योति ही उत्कृष्ट ज्योति है जो मुक्ति चाहते हैं उनको उसी के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहिये उसी की इच्छा करनी चाहिये व उसी का अनुभव करना चाहिये ॥४९॥ जैनमत के तत्वों का सार यह है कि ऐसा समझले कि जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है—और जो कुछ कहना है वह इसी का विस्तार है ॥५०॥ अपने, आत्मा को शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अनुभव करना यही सच्ची सुख शांति का कर्मों के बंध काटने का उपाय है—यही बात हर एक गृहस्थ या साधु को समझ लेनी चाहिये और इसी हेतु से ही व्यवहार चारित्र अपनी अपनी श्रेणी के योग्य पालना चाहिये।

लौकिक व्यवहार

जैनमत आत्मा की शुद्धि का मसाला है—यह मसाला बना रहे फिर कैसा भी लौकिक व्यवहार अर्थ (पैसा कमाना) व काम (इन्द्रिय भोग व सन्तान प्राप्ति) पुरुषार्थ के लिये किया जावे वह सब मानने योग्य है भिन्न भिन्न क्षेत्र व काल व जीवों के भावों

के कारण लौकिक व्यवहार भी भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है। एक जैनाचार्य ने बहुत ही ठीक कहा है—

सर्वमेवहि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त हानिर्न यत्र न व्रत दूषणं॥

भावार्थ—जिसमें जैनमत के तत्वों की श्रद्धा में हानि न हो व अपने किये हुए नियम तथा व्रतों में दोष न लगे ऐसी सर्व ही लौकिक विधि जैनों को माननीय है।

खाना पीना, कपड़ा पहनना, विवाह शादी करना आदि सब लौकिक आचार देशकालानुसार हुआ करता है—यदि लंडन में कोई कोट पतलून पहने व हिन्दुस्तान में पायजामा या जामा पहने इसमें कोई धर्म का सम्बन्ध नहीं है। धर्म का सम्बन्ध इतना ही है कि वस्त्र जितने अधिक दया भाव से व कम हिंसा से तय्यार हों उतना ठीक है। यदि हाथ के कते रूई के सूत के हाथ के बने हुए कपड़े हों तो मिल के कपड़ों से अच्छे हैं—चमड़े की वस्तुएं न काम में लाई जावें तो ठीक है क्योंकि चमड़े व हड्डी के कारण पशुओं का बध होता—गृहस्थों को खान-पान व वस्त्र के व्यवहार में दया भाव पर अवश्य ध्यान देना चाहिये—अपनी दोनों जरूरतें पूरी हो जावें और दया धर्म का यथा शक्य पालन हो यह ध्यान गृहस्थों को रखना चाहिये—खानपान में शरीर की स्वच्छता पर भी ध्यान देना योग्य है—हाथ पैर धो शुद्ध वस्त्र पहन शुद्ध स्थान में खाना उच्च आचार का चिन्ह है। जैसे तैसे खाना स्वच्छता व शरीर स्वास्थ्य का बाधक है क्योंकि धूल के भीतर घूमने वाले बहुत रोगिष्ट

जंतु व अशुद्धकपड़ों के द्वारा रोगी जन्तु भोजन में न आवे यह सम्हाल जरूरी है जैन शास्त्रों से यह पता चलता है कि ऋषभदेव भगवान ने इस भरत क्षेत्र के आर्य खंड में उस समय के योग्य खान पानादि विवाहादि आजीविकादि की रीतियें प्रचलित की जिनसे प्रजा आकुलता रहित अपना निर्वाह कर सके—धर्म का उपदेश तो तीर्थंकर भगवान उस समय तक देते नहीं हैं जब तक उनको सर्वज्ञ पद का लाभ न हो जावे। उस समय ऋषभदेव ने प्रजा के सुख से निर्वाह के लिये तीन वर्ण स्थापित किये—जिन लोगों को देश की रक्षा के योग्य मजबूत देखा उनको क्षत्रिय वर्ण में, जिनको कृषिव्यापारादि के योग्य देखा उनको वैश्य वर्ण में, जिनको शिल्प व सेवादि कार्य के योग्य देखा उनको शूद्र वर्ण में स्थापित किया। उन्होंने यह आज्ञा दी कि हरएक वर्ण वाले अपनी अपनी आजीविका करें यदि कोई दूसरे की करेगा तो दंड का पात्र होगा। यह आज्ञा इसीलिये दी कि वर्ण व्यवस्था संगठित हो जावे। सन्तान प्रति सन्तान एक ही प्रकार का व्यवसाय कुटुम्ब के भावों में उस व्यवसाय की सुगमता व दक्षता स्थापित कर देता है। तथा विवाह के लिये यह उचित समझा कि हर एक वर्ण वाला अपने अपने २ वर्ण में विवाह करे यदि कभी आवश्यकता हो तो क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र की, वैश्य शूद्र की कन्या विवाह सकता है। जब ऋषभदेवजी केवल ज्ञानी हो चुके और जैन धर्म का प्रचार जनता में फैल गया तब ऋषभदेव के पुत्र ने यह समझ कर कि कोई समाज ऐसा भी स्थापित करना चाहिये कि जो लोगों को धर्म में लगावे, उनको विद्या पढ़ावे, आप संतोष से रह कर धर्म साधन करे व जो अन्य भक्ति से

भेंट करे उस ही पर अपना पालन करे इनही तीन वर्णों के लोगों की परीक्षा की और जो श्रावक धर्म के पालक अति दयावान धर्मात्मा थे उनको ब्राह्मण संज्ञा दी और इस वर्ण को सब से ऊंचा ठहराया तब ब्राह्मणों को अधिकार दिया कि वे आवश्यकता होने पर कभी अन्य तीन वर्णों की कन्याएं ले सकते हैं। यह भी व्यवस्था समाज संगठन के हेतु से की गई।

सेवा व दीनता के कारण शूद्र वर्ण निम्न श्रेणीका व अन्य तीन वर्ण उच्च श्रेणी के माने जाने लगे कुछ काल पीछे यह रिवाज हो गया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य तीन वर्णों में खान पान व परस्पर विवाह में कोई भेद भाव न रहा। इसी व्यवस्था से समाज का काम चलता रहा—क्योंकि मुनि पद अति माननीय व पूज्यनीय होता है इसलिये यह व्यवस्था की गई कि ऐसा उच्च पद उच्च तीन वर्ण वाले ही धारण कर सकें। जिनका वर्ण शूद्र हो वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमा पालें—क्षुल्लक तक हो जावें। कोई कोई जैन शास्त्र से यह भी झलकता है कि सत् शूद्र होते थे वे मुनि हो सकते थे व मुनि को दान दे सकते थे (प्रवचनसार वृत्ति जय सैन गाथा ३९ अनगा रधर्मामृत श्लोक १६७—चारित्र तत्त्वदीपिका पृष्ठ १५०१५१)

जिसका भाव यही मालूम होता है कि कोई शूद्रों का आचरण अन्यों से उत्तम होने पर समाज उनको सत शूद्र भेद से पुकारती थी—वे भी उच्च वर्ण के समान कोटि में गिने जाते थे।

२।। हजार वर्ष पहले चौथे काल में इसी तरह की व्यवस्था बराबर जारी रही। व पंचम काल में भी कुछ काल तक रही—पंचम काल

में हर एक वर्ण में उपजातियां नामांकित की गई और वे भिन्न भिन्न हो गई। तब एक उपजाति अपनी ही उपजाति में सम्बन्ध करने लगी— उस समय के देश व काल को देखकर समाज ने ऐसा ही उचित समझा होगा। वर्तमान में इस विभिन्नता से यदि हानियें दीख पड़ती हैं तो राजा को या समाज को अधिकार है कि वे अवस्था को पलट दें और यह नियम कर दें कि एक वर्ण वाली सर्व उपजातियां परस्पर सम्बन्ध कर सकती हैं। जिसमें समाज सुखी रहे, कष्ट न पावे, संख्या भी न कम हो आचरण भी श्रद्धा व व्रतों पर स्थिर रहे वैसी व्यवस्था करना लौकिक जनों का लौकिक व्यवहार है – राजा व समाज को यह भी अधिकार है कि जिस किसी ने कोई दोष करके अपने कुल को अशुद्ध किया हो उसको प्रायश्चित देकर शुद्ध करदे जैसा महा पुराण में श्री जिनसेनाचार्य ने नीचे के श्लोक से प्रगट किया है—

कुताश्चित् कारणाद्यस्य कुलं सं प्राप्त दूषणं।
सोऽपि राजादि संमत्या शोधयेत्स्वकुलं यदा॥
तदास्यो पनयार्हत्त्वं पुत्र पौत्रादि संततौ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हेकुले चदेस्य पूर्वजाः॥

पर्व ४० श्लोक १६८—१६९

भावार्थ—यदि किसी कारण से किसी के कुल में दूषण लग जावे तो वह भी राजा आदि की सम्मति से तब अपने कुल को शुद्ध करले पश्चात् उसके पुत्र, पौत्रादि उपनयन (जनेऊ) आदि संस्कार

के योग्य हो सकते हैं—इसका निषेध नहीं है क्योंकि इसके पूर्वज (पुरुष) दीक्षा के योग्य (ब्राह्मण क्षत्री वैश्य) कुल में थे।

समाज को संगठित रखना राजा या प्रजा का कार्य है वह जिस रीति से प्रजा, धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों को एक दूसरे को हानि न देती हुई साध सके उस रीति का प्रचार कर सकते हैं। उनको सब कुछ अधिकार है—देखना यही होगा कि समाज और व्रतों में हानि न हो। जैन शास्त्रों में अजैनों को जैन की दीक्षा देने का विधान है—महापुराण में कर्तन्वय क्रिया के संस्कार तो उन जैनों के लिये है जो जन्म से तीन वर्णों के जैनी हैं तथा दीक्षान्वय क्रिया के संस्कार उनके लिये हैं जो नए दीक्षित जैनी हैं जब जैनी हो जाता है तब समाज के मुखिया उसकी आजीविका व आचरण की तरफ ध्यान देकर जिस वर्ण के योग्य उसे समझते हैं उस वर्ण में उसको नियत कर देते हैं। यदि क्षत्रिय कर्म करता हो तो क्षत्रिय, वैश्य कर्म करता हो तो वैश्य, शूद्र कर्म करता हो तो शूद्र, ब्राह्मण कर्म के योग्य हो तो ब्राह्मण फिर यह आज्ञा हो जाती है कि उसके पहले के समान वर्ण वाले उसको अपना मान ले उनके साथ समान व्यवहार करे—खान पान करे व कन्या देवें लेवें—महापुराण पर्व ३९ से यही भाव झलकता है।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात्संबंधं संविधित्सतः।
समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः॥६१॥

भावार्थ—नए दीक्षित को वर्ण का लाभ देना चाहिये जिससे

वह सम्बन्ध कर सके वर्ण पाकर वह अन्य समान वर्णवाले श्रावकों के समान हो जाता है—

इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युज्यते।
विधिवत्सोऽपि तं लब्ध्वा याति समकक्षताम् ॥७१॥

भावार्थ—समाज नए दीक्षित की प्रशंसा करके उसको नए वर्णमें स्थापित करे वह विधि के अनुसार वर्ण को पाकर समान कक्षा में हो जाता है। आजकल जैनी गृहस्थ नए दीक्षित जैनी के साथ सम्बंध रखाने में अपनी जाति का अभिमान रूपी सम्यक्त में बाधक भेद करके मनाई रखते हैं। सो यह उनका मिथ्यात्व है व जिन आज्ञा के सनातनमार्ग का तिरस्कार करना है। उचित है कि जैन धर्म को जगत में फैलाकर सुमार्ग पर जीवों को लगाया जावे। उनको सम्यक्ती और व्रती बनाया जावे। तीर्थंकरों ने और बड़े २ आचार्यों ने इसी कार्य को बड़ा भारी महत्व दिया था। इस पंचम काल में भी खंडेलवाल ओसवाल जाति नई दीक्षित जैन जाति है यह सर्व मान्य है। इसलिये वृथा मद को न करके उचित है कि देश परदेश में जैन धर्म का उपदेश प्रचार में लाया जावे और जो भाई व बहन श्रद्धावान हो कर शराब व मांस छोड़ दे उनको जैनी बना लिया जावे। फिर उनकी आजीविका देखकर यदि वे सिपाही के योग्य हों तो क्षत्रिय, कृषि, मसि व वाणिज्य के योग्य हों तो वैश्य; धर्ममात्र साधन के योग्य हों तो ब्राह्मण; शिल्प कारीगरी व सेवा कर्म करने के योग्य हों उनको शूद्र बना लेना चाहिये। और तीन वर्णों में परस्पर खानपान व विवाह सम्बंधी जारी कर

देना चाहिये जो अवस्था श्री महावीर स्वामी चौबीसवें तीर्थ कर के समय में थी। जो मांसाहार करता है व मद्य पीता है उसही के सुधार के लिये ही जैन श्रावकाचारों में इसके त्याग का उपदेश है। इस लिये जब कोई मानव चाहे जिस देश का हो यदि जैनी हो जावे तो उसका वर्ण स्थापित किया जा सकता है और वह समान बन सकता है। मानव समाज सब एक है उनमें घृणा का भाव न लाना चाहिये—ऐसा समझ कर जापानी, चीनवासी, यूनान-वासी, रोमवासी, अफ्रीकावासी, यूरुपवासी, अमेरिकावासी जो कोई भी जैनी बने उसका वर्ण लाभ उसकी आजीविका के अनुसार नियत करके उसके साथ खानपान व विवाह सम्बंध जारी करना ही धर्म की प्रभावना का बीज है। वर्तमान जितनी दुनिया प्रगट है वह जैन भूगोल की माप के सामने आर्यखंड के एक भाग में आजाती है इसलिये ये सब मनुष्य देश की अपेक्षा आर्य हैं, म्लेच्छ नहीं—ये सब हमारे बंधु हैं, उनको सुधारना परम कर्त्तव्य है। मानव जाति एक ही है कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था है ऐसा आदि पुराण में स्पष्ट कथन है—

मनुष्य जातिरेकैव जाति नामोद् भवा
वृत्ति भेदादितद् भेदा च्चातु र्विध्यमिहाश्नुते॥४५॥

ब्राह्मणाव्रत संस्कारात्
क्षत्रियाः शास्त्र धारणात्

वाणिज्योऽर्थार्जनान्न्यायात्
शूद्रान्यावृत्ति संश्रयात् ॥४६॥

॥ पर्व ३८

भावार्थ—पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से मनुष्य जाति एक ही है। आजीविका के भेद से चार वर्ण हो जाते हैं व्रतों के पालने से ब्राह्मण, शस्त्र धारण से क्षत्रिय, न्याय से द्रव्य कमाने से वैश्य तथा नीच कामों से आजीविका करने से शूद्र माने जाते हैं। श्री नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृतलब्धीसार ग्रंथ की १९५ गाथा की संस्कृत वृत्तिमें तो यह भी स्पष्ट कर दिया है कि म्लेच्छ खंड से आए हुए म्लेच्छ राजादिक यहां आर्य खंड वालों से विवाह आदि करके समान हो सक्ते हैं व उनको मुनि व्रत हो सक्ता है।

वे वाक्य हैं :—

"म्लेच्छ भूमिज मनुष्याणांसकल संयम ग्रहणंकथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्त्तिना सह आर्यखण्ड मागतानां म्लेच्छ राजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जात, वैवाहिक संबन्धानां संयम प्रति-पत्तेर विरोधात्। अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्यादि परिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृ पक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेश भाजः संयम

संभवात् तथा जातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रति-षेधाभावात ॥१६५॥

भावार्थ—म्लेच्छ भूमि में पैदा होने वाले मनुष्यों को मुनि का संयम कैसे होगा यह शंका न करनी उचित है। जब चक्रवर्ती दिग्विजय करने जाते हैं तब उनके साथ जो म्लेच्छ खंड के राजा लोग आते हैं उनके साथ चक्रवर्ती आदि का विवाह संबन्ध हो जाता है, उनको संयम लेने का विरोध नहीं है। अथवा उनकी कन्याओं को जो चक्रवर्ती व अन्य विवाह लाते हैं उनके गर्भ से पैदा हुए यद्यपि माता के पक्ष से म्लेच्छ हैं तथापि संयम के अधिकारी हैं। ऐसे उत्पन्न होने वालों को दीक्षा के योग माना है, निषेध नहीं है।

जैन लोगों को चाहिये कि उन आज्ञाओं को हितकारी मानकर देश परदेश में उपदेश का प्रचार करके लाखों व करोड़ों को जैनी बनाकर उनको दया धर्म्मी बना डालें, उनसे अन्याय व अभक्ष्य का त्याग करावें जिससे सर्व प्रजा सुखी हों।

विवाह कन्या या पुत्र का कब करना व उसमें क्या क्या रस्म करना यह सब लौकिक व्यवहार है। जिसमें वर वधु की तन्दुरुस्ती अच्छी रहे व उनमें योग्य वीर पुत्र पुत्री को विवाहते ही उत्पन्न करने की पात्रता हो तब उनका सम्बन्ध करना उचित है। वाग्भट्ट के अनुसार कन्या की आयु १६ वर्ष की और व वर की आयु २० वर्ष होनी उचित है। गृहस्थों का कर्त्तव्य है कि पहले पुत्र पुत्री को धार्मिक व लौकिक विद्या से भूषित करें फिर युवावय में उनकी लग्न करें। प्रौढ़ कन्या प्रौढ़ कुमार को ही विवाही जावे जिसमें सन्तान की वृद्धि हो :—

ऐसी सम्हाल रखने से ही समाज की संख्या स्थिर रह सकती है। राजा व समाज को यह अच्छी तरह देख लेना चाहिये कि लौकिक व्यवहार ऐसा जारी किया जावे जिससे कोई प्रजा क्षति न पावे, उनकी संख्या भी बनी रहे व उनका आचार व्यवहार भी नीति पूर्ण रहे तथा व सम्यक्त व व्रत को पाल कर अपने आत्मा की उन्नति कर सकें।

श्री महावीर स्वामी का उपदेश

श्री महावीर स्वामी जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर क्षत्रिय राजवंशी थे। उन्होंने ३० वर्ष की वय में साधु पद लेकर १२ वर्ष तप किया फिर सर्वज्ञ हुए—भगवान ने जीवों के हित के लिये, उनको सुख शांति लाभ कराने के लिये व आत्मा को कर्म के मैल से शुद्ध करने के लिये जो मार्ग बताया वह वही था जो सदा से चला आ रहा था—वही सनातन जैन मत है। जैन मत का सार यही है कि निश्चयनय और व्यवहारनय से रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग को समझ कर उसकी सिद्धि के लिये आत्मध्यान किया जावे तथा इसी ध्यान के साधन को मिलाने व बाधक कारणों को हटाने के लिये व्यवहार चारित्र साधु या गृहस्थ का पाला जावे।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्ती ने द्रव्यसंग्रह में यही कहा है:—

गाथा

दुविहं पि मोक्ख हेउं झाणे,
पाउणदि जं मुणी णियमा।

ताह्मा पयत्त चित्ता जूय,
झाणं समब्भसह ॥ ४७ ॥

भावार्थ—निश्चय व्यवहार दोनों मोक्ष मार्गों को एक साधु ध्यान के द्वारा सिद्ध कर सकता है इसलिये प्रयत्न करके तुम सब को ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

आत्म ध्यान का सरल उपाय अपने आत्मा के शुद्ध स्वाभाव का विश्वास है व उसी के मनन का प्रयास है। जो निश्चयनय से अपने आत्मा को ही तीर्थ, पूज्य देव व गुरु समझता है व व्यवहारनय से जहां से महात्माओं ने तप कर मुक्ति पाई है उन मुनियों के तीर्थ, अरहंत सिद्ध को पूज्य देव व निर्ग्रंथ साधुओं को गुरु समझता है वही सच्चा जैनी है।

श्री योगेन्द्राचार्य परमात्मा प्रकाश में निश्चय ध्यान का उपाय बताते हुए कहते हैं :—

अराणु जितित्थम जाहु जिय अराणु जिगुउमसेव।
अराणु जिदेवमचिंतिंतुकु अप्पा विमलमुयेवि॥

भावार्थ—अन्य तीर्थ में मत जा, अन्य गुरु की सेवा न कर, अन्य देव की आराधना न कर, एक अपने निर्मल आत्मा का मनन कर।

जैनमत में जो आत्मा शुद्ध हो जाता है वही परमात्मा है, एक किसी शासन-कर्त्ता ईश्वर की सत्ता को वे असिद्ध बताते हैं। जैनमत में अरहंत व सिद्ध परमात्मा की पूजा उनको खुश करके उनसे कुछ

मांगने के लिये नहीं होती है किन्तु मात्र अपने भावों को शुद्ध करने के लिये भक्ति की जाती है। जीवों के भाव तीन प्रकार के बताए गए हैं।

१ अशुभ भाव—पर को हानिकारक हिंसादि के व विषय लम्पटता के व तीव्र क्रोधादि के इनसे पाप कर्मों का बंध होता है जिसके फल से संसारिक दुःख प्रगट होता है।

२ शुभ भाव—परोपकार, दान, दया, भक्ति, क्षमा, शील संतोष आदि धर्मानुराग—इससे पुण्य कर्मों का बंध होता है जिससे संसारिक सुख सामग्री की प्राप्ति होती है।

३ शुद्ध भाव—आत्म-ध्यान से वीतराग भाव का होना इससे कर्मों का नाश होता है—

इस लिये जो जैनमत को रुचि से पालेंगे जब तक शुद्ध या मुक्त न होगें तब तक सुखमयी स्थिति में अधिक तरह रह सकेंगे, साता को भोगते हुए आत्मोन्नति कर सकेंगे।

दोहा

हो प्रसाद सीतल प्रभु, दुःखार्णव तरजात।
सुख सागर में मग्न हो, सुख सागर हों जात ॥१॥
चौबिस त्रेपन वीरसम, माहबदी बुध आठ।
जगतहेतु रचनाकरी, पढ़ो गुणे यह पाठ ॥२॥

|| श्री अमितगतिसूरिविरचित ||

सामायिक पाठ

का

भाषा छन्द बन्द

हे जिनेन्द्र ! सब जीवन से हो मैत्री भाव हमारे ।
दुःख दर्द पीड़ित प्राणिन पर करूं दया हर बारे ॥
गुणधारी सत्पुरुषन पर हो हर्षित मन अधिकारे ।
नहीं प्रेम नहिं द्वेष वहां विपरीत भाव जो धारे ॥१॥
हे जिनेन्द्र ! अब भिन्न करन को इस शरीर से आतम ।
जो अनन्त शक्तिधर सुखमय दोषरहित ज्ञानातम ॥
शक्ति प्रगट हो मेरे में अब तक प्रसाद परमातम ।
जैसे खड्ग म्यान से काढ़त अलग होत तिम आतम ॥२॥
दुःख सुखों में, शत्रु मित्र में हो समान मन मेरा ।
वन मन्दिर में, लाभ हानि में हो समता का डेरा ॥
सर्व जगत के थावर जंगम चेतन जड़ उलझेरा ।
तिन में ममत करूं नहिं कबहीं छोड़ूँ मेरा तेरा ॥३॥
हे मुनीश ! तव ज्ञान मयी चरणों को हिय में ध्याऊं ।
लीन रहें, वे कीलित होवें थिर उनको बिठलाऊं ॥
छाया उनकी रहे सदा सब औगुण नष्ट कराऊं ।
मोह अँधेरा दूर करन को रत्नदीप सम भाऊं ॥४॥
एकेन्द्री दो इन्द्री आदिक, पंचेन्द्री पर्यंता ।
प्राणिन को प्रमादवश होके इत उत में विचरंता ॥

नाश छिन्न दुःखित कीये हों मैंने कर कर अन्ता ।
सो सब दुराचारकृत पाप दूर होहु भगवन्ता ॥५॥
रत्नत्रय मय मोक्षमार्ग से उलटा चल कर मैंने ।
तज विवेक इन्द्रियवश होके अर कषाय आधीने ॥
सम्यक् व्रत चारित्र शुद्धि में किया लोप हो मैंने ।
सो सब दुष्कृत पाप दूर हो शुद्ध किया मन मैंने ॥६॥
मन वच काय कषायन के वश जो कुछ पाप किया है ।
है संसार दुःख का कारण ऐसा जान लिया है ॥
निन्दा गर्हा आलोचन से ताको दूर किया है ।
चतुर वैद्य जिन मन्त्र गुणों से विष संहार किया है ॥७॥
मति भ्रष्ट हो हे जिन ! मैंने जो अतिक्रम कर डाला ।
सुआचार कर्म में व्यतिक्रम अतीचार भी डाला ॥
हो प्रमाद आधीन कदाचित् अनाचार कर डाला ।
शुद्ध करण को इन दोषी के प्रतिक्रम कर्म सम्हाला ॥८॥
मन शुद्धि में हानिकारक जो विकार अतिक्रम है ।
शील स्वभाव उलंघन की मति सो जाना व्यतिक्रम है ॥
विषयों में वर्तन हो जाना अतिचार नहिं कम है ।
है स्वछंद आसक्त प्रवर्तन अनाचार इक दम है ॥९॥
मात्रा पद अर वाक्यहीन या अर्थहीन वचनों को ।
कर प्रमाद बोला हो मैंने दोष सहित वचनों को ॥
क्षम्य ! क्षम्य ! जिन वाणि सरस्वति ! शोधो मम वचनों को ।
कृपा करो हे मात ! दीजिये पूर्ण ज्ञान रतनों को ॥१०॥
वार वार वन्दू जिन माते तू जीवन सुखदाई ।

मन चिन्तित वस्तु को देवै चिन्तामणि सम भाई ॥
रत्न त्रय अर ज्ञान समाधि शुद्ध भाव इकताई ।
स्वात्मलाभ अर मोक्ष सुखों की सिद्धि दे जिनमाई ॥११॥
सर्व साधु यति ऋषि और अनगार जिन्हें सुमरे हैं ।
चक्रधार अर इन्द्र देवगण जिनकी थुति करे हैं ॥
वेद पुराण शास्त्र पाठों में जिनका गान करे हैं ।
सो परम देव ! मम हृदय तिष्ठो तुझ में भाव भरे हैं ॥१२॥
सबको देखन जानन वाला सुख स्वभाव सुखकारी ।
सब विकारि भावों से बाहर जिनमें हैं संसारी ॥
ध्यान द्वार अनुभव में आवे परमातम शुचिकारी ।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो भाव तुम्ही में भारी ॥१३॥
सकल दुःख संसारजाल के जिसने दूर किये हैं ।
लोकालोक पदारथ सारे युगपत देख लिये हैं ॥
जो मम भीतर राजत है मुनियों ने जान लिये हैं ।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो सम रस पान किये हैं ॥१४॥
मोक्ष मार्ग त्रय रत्न मयी जिसका प्रगटावनहारा ।
जन्म मरण आदि दुःखों से सब दोषों से न्यारा ॥
नहिं शरीर नहिं कलंक कोई लोकालोक निहारा ।
सो परम देव मम हृदय तिष्ठो तुम बिन नहिं निस्तारा ॥१५॥
जिनको सब संसारि जीवों ने अपना कर माना है ।
राग द्वेष मोहादिक जिसके दोष नहीं जाना है ॥
इन्द्रिय रहित सदा अविनाशी ज्ञानमयी बाना है ।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो करता कल्याना है ॥१६॥

जिसका निर्मल ज्ञान जगत में है व्यापक सुखदाई।
सिद्ध बुद्ध सब कर्म बंध से रहित परम जिनराई ॥
जिसका ध्यान किये क्षण क्षण में सब विकार मिट जाई।
सो परमदेव मम हृदय तिष्ठो यही भावना भाई ॥१७॥
कर्म मैल के दोष सकल नहिं जिसे पर्श पाते हैं।
जैसे सूरज की किरणों से तम समूह जाते हैं ॥
नित्य निरंजन एक अनेकी हम मुनिगण ध्याते हैं।
उस परमदेव को अपना लखकर हम शरणा आते हैं ॥१८॥
जिसमें तापकरण सूरज नहिं ज्ञानमयी जगभासी।
बोध भानु सुख शांतिकारक शोभ रहा सुविकासी ॥
अपने आतम में तिष्ठे है रहित सकल मल पासी।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणा ली भवत्रासी ॥ १९॥
जिसमें देखत ज्ञान दर्श से सकल जगत प्रतिभासे।
भिन्न भिन्न षट् द्रव्यमयी गुण पर्ययमय समतासे ॥
है शुद्ध शांत शिवरूप अनादि जिन अनंत फटिकासे।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणाली सुखभासे ॥२०॥
जिसने नाश किये मन्मथ अभिमान मूर्छा सारी।
मन विषाद निद्रा भय शोक रति चिंता दुखकारी ॥
जैसे वृक्ष समूह जलावत वन अग्नि भयकारी।
उस परमदेव को अपना लखकर शरणा ली सुखकारी ॥२१॥
है व्यवहार विधान शिला पृथ्वी तृण का संथारा।
निश्चय से नहिं आसन हैं ये इनमें नहिं कुछ सारा ॥
इन्द्रिय विषय कषाय द्वेष से रहित जो आतम प्यारा।
ज्ञानी जीवों ने गुण लखकर आसन उसे विचारा ॥२२॥

नहिं संथारा कारण होगा निज समाधि का भाई ।
नहिं लोगों से पूजा पाना संघ सेवा सुखदाई ॥
रात दिवस निज आतम में तू लीन रहो गुणगाई ।
छोड़ सकल भव रूप वासना निज में कर इकताई ॥२३॥

मम आतम बिन सकल पदारथ नहिं मेरे होते हैं ।
मैं भी उनका नहिं होता हूं नहिं वे सुख बोते हैं ॥
ऐसा निश्चय आन छोड़ के बाहर निज टोते हैं ।
उन सम हम नित स्वस्थ रहें ले मुक्ति कर्म खोते हैं ॥२४॥

निज आतम में आतम देखो हे मन परम सुहाई ।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी परम शुद्ध सुखदाई ॥
चाहे जिसी ठिकाने पर हो हो एकाग्र अधिकाई ।
जो साधु आपे में रहते सच समाधि उन पाई ॥२५॥

मेरा आतम एक सदा अविनाशी गुण सागर है ।
निर्मल केवल ज्ञानमयी सुख पूरण अमृतघर है ॥
और सकल जो मुझसे बाहर देहादिक सब पर है ।
नहीं नित्य निज कर्म उदय से बना यह नाटकघर है ॥२६॥

जिसका कुछ भी ऐक्य नहीं है इस शरीर से भाई ।
तब फिर उसके कैसे होंगे नारी बेटा भाई ॥
मित्र शत्रु नहिं कोई उसका नाहिं संग साथी दाई ।
तन से चमड़ा दूर करे नहिं रोम छिद्र दिखपाई ॥२७॥
र के संयोगों में पड़ तनधारी बहु दुख पाया ।
स संसार महावन भीतर कष्ट भोग अकुलाया ॥

मन बच काया से निश्चय कर सब से मोह छुड़ाया ।
अपने आतम की मुक्ति ने मन में चाव बढ़ाया ॥२८॥
इस संसार महावन भीतर भटकन के जो कारण ।
सर्व विकल्प जाल रागादिक छोड़ो सर्व निवारण ॥
रे मन ! मेरे देख आत्म को भिन्न परम सुखकारण ।
लीन होहु परमातम माहीं जो भव-ताप निवारण ॥२९॥
पूर्व काल में कर्मबन्ध जैसा आतम ने कीना ।
तैसा ही सुख दुख फल पावे होवे मरना जीना ॥
पर का दीया यदि सुख दुख को पावे बात सहीना ।
अपना किया निरर्थक होवे सो होवे कबहु ना ॥३०॥
अपने ही बांधे कर्मों के फल को जिय पाते हैं ।
कोई कोई को देता नाहीं ऋषि गण इम गाते हैं ॥
कर विचार ऐसा दृढ़ मन से जो आतम ध्याते हैं ।
पर देता सुख दुख यह बुद्धि नहिं चित में लाते हैं ॥३१॥
जो परमातम सर्व दोष से रहित भिन्न सब से है ।
अमिति गति आचारज बंदे मन में ध्यान करे है ॥
जो कोई नित ध्यावे मन में अनुभव सार करे है ।
श्रेष्ठ मोक्ष लक्ष्मी को पाता आनन्द ज्ञान भरे है ॥३२॥
इन बत्तीस पदन से जो कोई परमातम ध्याते हैं ।
मन को कर एकाग्र स्वात्म में अव्यय पद पाते हैं ॥
सुख सागर बढ़न के कारण सत अनुभव लाते हैं ।
साची सामायिक को पाकर भवदधि तर जाते हैं ॥३३॥

मुद्रक—रामप्रसाद बाजपेयी, कृष्ण-प्रेस, क्रिकेट रोड, प्रयाग

शुद्धाशुद्ध पत्र।

लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१८	जाता हैं.	जाता है
६	छुटे न थे	छूटे न थे
१३	प्रथ्वी	पृथ्वी
१९	मक्खा	मक्खी
५	इन्द्रियों के	इन्द्रियों की
६	जैसे	जो
३	मणूरम्	मणूपमम्
१५	रासा	एषा
१२	ठंढा	ठंडा
१	पैदा हो जाती है के आगे यह और लिखो। और शरीर के बिगड़ने पर वह नष्ट हो जाती है।	
२	आज काज	आज तक
६	दसरा	दंसरण
१५	आत्मा	आत्माओं
१६	द्रव्य	द्रव्यों
४	अत्यन्त	अनन्त
६	अपने	अनेक
१०	ष्यान	ध्यान
६	दोनों श्लोकों में परिवर्तन करो।	
१९	हरते है	रहते हैं
१३	लेता	लेता है,
१०	सस	तुस
७	व	वि
४	धर्मोप्रदेश	धर्मोपदेस
९	कमन	का मन

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
२९	१०	हुए	हैं
२९	१४	गृहण	ग्रहण
२९	१९	प्रदेश	पदेश
३२	९	की भी	के भी
३४	१९	रेल रेल	रेल
३९	४	बच्छ	बच्छे
३९	१२	आठ मूल ग्रहण	आठ मूल गुण ग्रह
४१	१५	ऐसे १२	ऐसे १२ व्रतोंका पालक
४१	१९	तुरा प्रणाम	सुष्प्रणामः
४२	१	तीन वर्ष	तीन तीन
४२	१-२	चार चार	चार
४३	१६	बोत्ति	योत्ति
४४	१२	कम्य	कम्य
४४	१४	मादेकादि	मोदकादि
४६	५	मृत्सृज्य	मुत्सृज्य
४७	१	वह इस लोक	व इस लोक
४७	११	भित्ता भाजन	भिक्षा भोजन
४७	२१	जा मिले	जीमले
४८	१	हाव	हो वह
५०	१०	भणीय	भणियं
५१	हेडिंग में	काय गुप्ति	गुप्ति
५२	१७	गृहस्य	गृहस्थ
५२	१	से जो प्राचीन	में जो प्राचीन
		नम्र	नग्न
५९	१	लीगों की	लोगों की
६०	१	वण	वर्ण
६०	१४	कुतारिचत्	कुत्तश्चित्